विषय सूची

क्रम संख्या | | पृष्ठ संख्या

मूल्य १)

अपने

अग्रज

श्री कमलधारी प्र० सिंह जी

को

कपिल

निवेदन

मैं न तो किसी राजनीतिक दल विशेष का सदस्य हूँ और न किसी खास दल में घुस कर स्वार्थ एवं परमार्थ की सिद्धि चाहने वाला महत्वाकांक्षी व्यक्ति ही। अतएव इन बारह बातों में राजनीतिक सामाजिक एवं साहित्यिक गोरखधंधा को अपने अध्ययन एवं अध्यापन काल में निरपेक्ष भाव से देखने पर मेरे हृदय में जो प्रतिक्रियायें हुई हैं, वे ही कलमबन्द की गई हैं। देश में यद्यपि विभिन्न वादों एवं दलों की सृष्टि दिन प्रति दिन हो रही है तथापि विकास की प्रत्येक दिशा में जो प्रगति हुई है वह विकट असंतोषकारी ही नहीं, घोर निराशाजनक भी है। भारतीय जनता चौराहे पर विस्मित भाव से खड़ी है और विभिन्न राजनीतिक दल भोंपू बजा बजाकर उसे अपनी अपनी ओर आकृष्ट करने के प्रयास में हैं किन्तु प्रत्येक भोंपू का स्वर बेसुरा प्रतीत होता है।— कहा नहीं जा सकता कि देश की जड़ किन्तु श्रद्धालु जनता क्या निर्णय लेगी ?

कलिकाल वर्णन में तुलसी ने अपने मानस में

जो— जाके नख अरू जटा विशाला
सोइ तापस प्रसिद्ध कलिकाला— लिखा है

वह देश व्यापी प्रवंचकों को देखने पर अक्षरसः ठीक प्रतीत होता है। जिसके वस्त्र जितने स्वच्छ वह उतना ही बड़ा पाखंडी एवं मक्कार सिद्ध होता है। प्रवंचना के ये पुतले ही देश के सर्वतोमुखी ह्रास के लिये उत्तरदायी हैं। आज देश ईमान, सच्चाई, नैतिकता एवं पारस्परिक विश्वास के अभाव में छटपटा रहा है किन्तु उसकी छटपटाहट को देखकर उसे दूर करने वालों की संख्या नगण्य है। लोगों की शुद्ध कर्त्तव्य भावना को तो जैसे लकवा मार गया है। और इसीलिए कर्त्तव्य को कर्त्तव्य समझने वाले भी नहीं रह गए हैं। स्वार्थ सिद्धि के अतिरिक्त दूसरा कोई कर्त्तव्य सामने नहीं दीखता। मानवमात्र का हृदय मूर्द्धन्य 'ष' की तरह चीरा हुआ है— सोचना कुछ, बोलना कुछ।

ये ही सारी बातें हैं जिन्होंने मेरे माथे को नोंचा है और उसी नोचने के क्रम में ये बारह बातें लिखी गई हैं। यह मैं कैसे कहूँ कि अकेला मैं ही सारे मानवीय गुणों का प्रतीक हूँ, पर इतना विश्वास मुझे है कि मेरी छटपटाहट में मुझ में जो कुछ भी (थोड़ी ही सही) सच्चाई और ईमानदारी है, वही अभिव्यक्त हुई है। मैंने जो कुछ भी देखा है, सुना है, और अनुभव किया है उसे निर्भीकता पूर्वक आपके समक्ष रखने का विनम्र प्रयास किया है। निर्भीकता को मैं वरदान समझता हूँ—अनाचार, अत्याचार, बेईमानी शैतानी, आडम्बर एवं मक्कारी को देखकर मैं चुप नहीं रह सकता और अपनी ही तरह सोचनेवाले प्रत्येक

व्यक्ति से मैं इसी निर्भीकता की अपेक्षा रखता हूँ तथा उनका आदर करना अपना पुनीत कर्त्तव्य एवं धर्म समझता हूँ। इस संबंध में और अधिक कुछ न कहकर आपके समक्ष 'दिनकर' की निम्न पंक्तियां ही दुहरा देता हूँ—

शौक हो जिनको जलें वे प्रेम से
मैं कभी चुपचाप जल सकता नहीं।

अन्त में मैं 'ज्ञानपीठ प्रकाशन' के मालिक श्री पं० मदन मोहन पांडेय जी को जो केवल प्रकाशक ही नहीं; मेरे मित्र भी हैं; धन्यवाद देता हूँ क्यों कि इनकी तत्परता के बिना इसका इतना शीघ्र प्रकाशन कदापि संभव नहीं था। उन मित्रों को धन्यवाद क्या दूँ जिन्होंने प्रत्येक बात को सुनकर मुझे प्रोत्साहित किया है— उनका तो जीवन पर्यन्त ऋणी रहना ही है।

यदि मेरी ये बारह बातें मेरे पाठकों को ठीक लगीं तो मैं इसे अपना सौभाग्य समझूँगा और भविष्य में भी जानी, सुनी, एवं देखी बातों को लेकर उनके समक्ष पेश करने का प्रयास करूँगा। इत्यलम्।

चौकी
तिलक जयन्ती
श्रावण, कृष्ण ४, २००७

प्रो० कपिल

"भारतीय जनतंत्र की जय"

आज से २० वर्ष पूर्व १९३० की २६ जनवरी को पूर्ण स्वराज्य दिवस मनाने के अवसर पर गाँधी जी के नेतृत्व में कांग्रेस ने जो घोषणापत्र देश के नगर-नगर में, गाँव-गाँव में भेजा था उसका एक अंश यों है :—

"हम भारतीय प्रजाजन भी अन्य राष्ट्रों की भाँति अपना जन्मसिद्ध अधिकार मांगते हैं कि हम स्वतंत्र होकर रहें, अपने परिश्रम का फल हम स्वयं भोगें और हमें जीवन निर्वाह के लिए आवश्यक सुविधायें प्राप्त हों जिससे हमें भी विकास का पूरा अवसर मिले। हम यह भी मानते हैं कि यदि कोई सरकार ये अधिकार छीन लेती है और प्रजा को सताती है तो प्रजा को उस सरकार के बदल देने या मिटा देने का भी अधिकार है। सरकार ने भारतीयों की स्वतंत्रता का ही अपहरण नहीं किया है बल्कि उसका आधार भी गरीबों के रक्त शोषण पर है और उसने आर्थिक, राजनैतिक

सांस्कृतिक और आध्यात्मिक दृष्टि से देश का नाश कर दिया है। अतः हमारा विश्वास है कि भारतवर्ष को अंग्रेजों से संबंध विच्छेद करके पूर्ण स्वराज्य या स्वाधीनता प्राप्त कर लेनी चाहिए"।

यह इतिहासिक घोषणापत्र आज भी उतना ही क्रान्तिकारी एवं स्मरणीय है जितना वह आज से बीस वर्षों पूर्व था। हमें २६ जनवरी के पुनीत जनतंत्र दिवस के अवसर पर पुनः इन वाक्यों की आवृत्ति कर लेनी चाहिये। स्वराज्य की प्राप्ति तो हुई किन्तु आर्थिक शोषण का अन्त कहाँ हुआ? हमारे परिश्रम के फल भोक्ता अभी भी मुट्ठी भर मालिक ही हैं। पूँजीवादी शासन के पोषक तो चले गए किन्तु उस विष-वृक्ष की शाखायें अभी भी दूर-दूर तक फैली हुई हैं और इस वृक्ष की डालियों की पापपूर्ण छाया को हम तभी दूर कर सकते हैं जब इस व्यवस्था का मूलोच्छेद करने के लिए हम कटिबद्ध हो जाँय।

आज जनतंत्र दिवस है और इस तंत्र के संचालक एवं संरक्षक भी देश के ही सम्मानित जननायक हैं। अतएव आज से देश के प्रत्येक जन का यह धर्म हो जाता है कि वह प्रतिकूल परिस्थितियों को अनुकूल बनाए। पूँजीवादी समाज में राष्ट्रीय उत्पीड़न का ध्वंस जहां तक भी संभव है, तभी संभव है जब एक संगत जनवादी प्रजातंत्र की व्यवस्था हो और ऐसी शासन-प्रणाली हो जो सभी जातियों और

भाषाओं की पूर्ण एकता की रक्षा कर सके। यदि ऐसे जनवादी प्रजातंत्र की व्यवस्था यहाँ की जनता कर सकी तो निश्चय ही प्रतिकूल परिस्थितियाँ अनुकूल हो जाँयगी और जनता तब निर्भय होकर दृढ़ता से आगे बढ़ेगी।

२६ जनवरी १९३० के कुछ ही दिनों बाद गाँधी जी ने लार्ड इरविन के पास ११ शर्तें भेजी थीं जो शर्तें आज भी ज्यों की त्यों हैं। उन शर्तों में से कुछ यों हैं—

(१) संपूर्ण मदिरा-निषेध।
(२) जमीन का लगान आधा कर दिया जाय और उसपर कौंसिलों का नियंत्रण हो।
(३) नमक कर उठा दिया जाय।
(४) लगान की कमी को देखते हुऐ बड़ी-बड़ी नौकरियों के वेतन कम से कम आधे कर दिए जाँय।
(५) खुफिया पुलिस उठा दी जाय अथवा उस पर जनता का नियंत्रण कर दिया जाय।

इन शर्तों के साथ आगे जो गाँधी जी ने लिखा था उसका उल्लेख यहाँ आवश्यक है क्यों कि इन शर्तों की आवश्यकताओं का महत्व उनके पत्र के आगे ही छिपा है। गाँधी जी ने लिखा—"हमारी बड़ी से बड़ी आवश्यकताओं की यह कोई संपूर्ण सूची नहीं है। वायसराय साहब इन सीधी-सादी किन्तु अत्यावश्यक भारतीय आवश्यकताओं की पूर्ति तो कर दिखावें। ऐसा होने पर सविनय अवज्ञा की

बात भी उनके कान में नहीं पड़ेगी और जहाँ अपनी बात कहने और काम करने की पूरी आजादी होगी, ऐसी किसी भी परिषद् में कांग्रेस हृदय से भाग लेगी।" आज देश आजाद हो चुका है—जनतंत्र की घोषणा भी हो रही है; साथ ही कांग्रेस भी वही है किन्तु क्या कांग्रेस में इन शर्तों की पूर्ति के लिए बल शेष रह गया है? यह एक ऐसा प्रश्न है कि कांग्रेसजनों को अपने आप से पूछना चाहिए।

कहते हैं जब मरणशय्या पर लेनिन से स्तालिन की बातें हुई थीं तो उसने अपने शेष कार्यों की पूर्ति के लिये किंचित चिंता प्रकट की थी और स्तालिन ने अपने उस महान् नेता की मृत्यु के पश्चात् उसकी एक-एक चिंता की पूर्ति के लिए जो कार्य किए हैं वे सर्वविदित हैं। यहाँ लेनिन की चिंता और स्तालिन की प्रतिज्ञा पर हमारा ध्यान बरबस खिंच जाता है।

"हमसे बिछुड़ते हुए का० लेनिन ने कहा था कि हम पार्टी सदस्यता के गौरव को अक्षुण्ण बनाए रक्खें और उसकी रक्षा करें, हम अपनी पूरी शक्ति से मजदूरों और किसानों के सहयोग को दृढ़ करें, आँख की पुतलियों की तरह पार्टी एकता की रक्षा करें तथा हम सर्वहारा एकाधिपत्य की हिफाजत्त करें और उसे सुदृढ़ करें।" स्तालिन ने जनता की भरी सभा में यह प्रतिज्ञा की थी कि वह अपने नेता की इच्छाओं की पूर्ति के लिए अपना प्राण लगा देगा

और उसने प्राणपण से इसकी चेष्टा भी की। परिणाम-स्वरूप युगों का पिछड़ा देश आज समृद्धि एवं पराक्रमशीलता में अपनी शानी नहीं रखता।

किन्तु बापू के अनुयायियों की सारी प्रतिज्ञायें हवा होती जा रहीं हैं, पार्टी एकता तो दिन प्रतिदिन छिन्न-भिन्न होती जा रही है—सर्वहारा के स्वार्थों की रक्षा के बजाय यहाँ के जननायक अपने स्वार्थों की रक्षा में ही व्यस्त हैं। पारस्परिक तू-तू मैं-मैं के कारण काँग्रेस जैसी गौरवशाली राष्ट्रीय संस्था की कमर टूटती जा रही है। अतएव वर्षों के पुण्य को आज फलते देख हमें पुनः एक बार गंभीरता-पूर्वक सोचना चाहिए। जनतंत्र का नाम मधुर है किन्तु इसकी जिम्मेदारियाँ बड़ी भीषण हैं। हम स्वार्थजर्जर, अनुशासन हीन एवं अनियंत्रित होकर इस महादेश के गौरव को नहीं बचा सकते। जनजागरण की महावेला में हम भैरवी के बदले विहाग अलाप रहे हैं। यदि वास्तव में इस नवजात भारतीय जनतंत्र को देश की धरती के अनुकूल बना कर रखना है तो इस अबोध एवं नादान शिशु को पूँजीवाद की पूतना का दूध हर्गिज नहीं पीने देना चाहिए और हम में से प्रत्येक को अपनी नैतिकता को ऊपर उठाने की चेष्टा करनी चाहिए।

आज आयोजन के साथ हम जिस शिशु का जन्मो-त्सव मना रहे हैं; हमें चाहिए कि हम शुद्ध मन से उसकी

दीर्घजीविता के लिए भी प्रार्थनायें करें, मिन्नतें मानें। यह युग जागरण का है—विश्व का एक-एक कोना अंगराई ले रहा है और प्रत्येक राष्ट्र (छोटा या बड़ा) अपनी सुरक्षा की चिन्ता में नानाविध उत्थान के लिए प्रयत्नशील है। हमारी चेष्टायें भी कम पवित्र नहीं हैं किन्तु लक्ष्य तक पहुँचने के लिए जिस सच्चाई, लगनशीलता एवं कर्त्तव्य-परायणतापूर्ण साधना की आवश्यकता होती है उसका क्यों तो देश के प्रत्येक क्षेत्र एवं वर्ग से लोपसा हो गया है। पूँजीवाद के नाश के नारे लगाने वाले ही, पूँजी बटोरने के लिए लाख-लाख कुकर्म करें एवं उसी की चिन्ता में रहें, यह देश के लिए कम दुर्भाग्य एवं ग्लानि की बात नहीं।

हमें ऐसे शुभ मुहूर्त पर खुशियाँ मनानी ही चाहिए पर देश की संपूर्ण आर्थिक व्यवस्था संकटापन्न है और इससे बचने का उपाय भाषण, वक्तव्य या समाचारपत्रों में चित्रों का प्रकाशन नहीं वरन् सामूहिक खेती के आधार पर बिखरे हुए खेतों से बड़े, संयुक्त खेत बनायें, नए और उच्चतर कौशल के आधार पर पंचायती खेती का श्रीगणेश करें, और तब राष्ट्रगान वाली सुजलां सुफलां धरती एकबार पुनः लहलहा उठेगी। देश की प्रत्येक राजनीतिक पार्टी एवं देश के प्रत्येक व्यक्ति को एक स्वर से यह प्रतिज्ञा लेनी चाहिए कि हम अपने देश की कृषि को उन्नत एवं संपन्न बना कर ही रहेंगे। पर यह तो तब तक नहीं हो सकता जब तक पूंजीवाद की सन्तान नारन्तक के वंशजों की तरह

सुदूर देहातों में फैली रहेगी। नगरों और देहातों के लाखों छोटी पूंजीवाले लोग पूंजीवाद के लिए उर्वर प्रदेश का काम कर रहे हैं। ये छोटे-मोटे पूंजीवादी न तो श्रम संबंधी किसी प्रकार का अनुशासन ही मानेंगे और न शुद्ध नागरिकता का परिचय ही दे सकेंगे। यदि राज्य की ओर से नाप-जोख किंवा नियंत्रण आदि की व्यवस्था भी होगी तो ये सारी चीजों को शंकित भाव से देखेंगे। हमें इनकी ओर सतर्क होकर देखते चलना होगा और उन सारी विरोधी शक्तियों का दमन करना होगा जिनके कारण देश के रोगमुक्त शरीर में नवीन रक्त का संचार रुका हुआ है। अतएव संपत्ति एवं पूंजी का व्यवस्थित विभक्तीकरण ही आर्थिक संकट पर विजय पाने का एकमात्र उपाय है।

इतिहास इस बात का साक्षी है कि राजनीतिक क्रान्ति ही सामाजिक क्रान्ति की जननी हुआ करती है किन्तु सामाजिक क्रान्ति के लिए हमें ईमानदार और निष्कलंक होना होगा, विकट परिस्थितियों में भी कातरता की छाया से दूर रहना होगा। राजनीतिक कमाऊ-लाऊ लोगों की तरह नीचे गिर कर हम समाज में क्रान्ति कदाचित नहीं ला सकते। सामाजिक लुकाठियों को साथ लेकर क्रान्ति का आवाहन नहीं किया जा सकता।

इस २६ जनवरी के पुनीत अवसर को आनेवाली पीढ़ी उसी गौरव के साथ स्मरण करेगी जिस गौरव एवं गर्व से १४ जुलाई को फ्रांस में, ४ जुलाई को अमेरिका में तथा २०

अक्टूबर को रूस में याद किया जाता है। अपने देश के इतिहास में हमें अपने प्रथम स्वातंत्र्य संग्राम को सिपाही-विद्रोह समझने के लिए बाध्य किया गया था किन्तु वही संग्राम दिन प्रतिदिन आगे बढ़ता चला और अन्त में गाँधी जी की छाया में अनेक संग्राम एवं आन्दोलन हुए। बापू में क्रान्ति करने की और उसमें लहर पैदा करने की अद्भुत क्षमता थी और जनसाधारण ने उन्हीं से लहरों से खेलना सीखा था। इसीलिए यदि यह कहा जाय कि स्वतंत्रता संग्राम के सफल संचालन का सारा श्रेय जनसाधारण को ही है तो ठीक ही होगा। आज उसी जनसाधारण का जनतंत्र दिवस है। भगवान् इस जनतंत्र को फूलने-फलने का शान्तिपूर्ण सुअवसर दे और जनता को अपने तंत्र के सफल संचालन का बल दे।

— भारतीय जनतंत्र की जय —

—:o:—

"तुलसी भी शेक्सपीयर भी"

भारत की आजादी के आते ही यहाँ के वातावरण में एक भीषण कोलाहल छा गया है। अंग्रेज गए और अब अंग्रेजी को भी अर्द्धचंद्र देकर निष्कासित करने का सिरतोड़ परिश्रम हो रहा है, किन्तु राह गलत है, निरापद नहीं है। आर्थिक जगत के शोषकों का वहिष्कार तो कुछ अर्थ रखता है किन्तु साहित्य जगत से कलाकारों का वहिष्कार या उनकी कृतियों के प्रति उदासीनता एवं उपेक्षा का भाव रखना एक अघटनीय घटना सी जान पड़ती है। संस्कृत को मृतक भाषा कह कर न जाने कितने माहन्-महान् व्यक्तियों ने संबोधित किया किन्तु वेदों के उपागान का सौन्दर्य अक्षुण्ण ही रहा। उपनिषदों के उदात्त दर्शन की जड़ न हिली। कालिदास के गान आज भी त्रिकाल त्रिभुवन में गूँज रहे हैं—भवभूति की करुणा आज भी हृदय को पिघला देने की क्षमता रखती है—तो क्या यह संभव है कि हम शेक्सपीयर

शेली तथा शॉ आदि की साहित्यिक साधना को फूँक कर उड़ा देंगे ? विदेशी बुरे हो सकते हैं किंतु साहित्य के क्षेत्र में कलाकार की महत्ता बुरी नहीं हो सकती। उसका मूल्यांकन करना ही होगा, उसे समझना ही साहित्य की प्रगति है।

किन्तु क्षणिक आवेश में हम एक ऐसे साहित्य की उपेक्षा कर रहे हैं जिससे संसार का साहित्य प्रभावित हुआ है। शेक्सपीयर के नाटक, शेली के मधुरतम करुणगीत आदि मिटा देने की चीज नहीं हैं। मैं मानता हूँ कि लोग हिन्दी को शीर्षासन पर बिठाना चाहते हैं— चाहिए भी; क्योंकि हिन्दी का भविष्य हिन्द की स्वतंत्रता पर ही आश्रित था। हम हिन्द निवासियों का हिन्दी के प्रति उतना ही दायित्व है जितना स्वयं हिन्द की मिट्टी के प्रति। अतः हिन्दी के विकास की चिन्ता अनिवार्य है, किन्तु क्या हिन्दी के कवि, लेखक या साहित्यकार शेक्सपीयर आदि की समाधि पर साहित्य के मंदिर का निर्माण करना चाहेंगे ?

ऐसे बहुत से विद्वान हैं जिन्हें (Words worth) वर्डसवर्थ और पन्त दोनों के लिए स्नेह एवं श्रद्धा है। उन्हें दोनों के प्रकृति चित्रण में फूलों की पंखुरियों के स्पन्दन सुनाई पड़ते हैं। पीड़ा से पीड़ित कोकिल की आहों को सुन कर भी मौन रहने वाली रोसेटी महादेवी जी की ही जाति की थी जिसके गीतों का दर्द ही काव्य की संपत्ति है। अंग्रेजी ने हमारे भारतीय साहित्य को सर्वतोमुखी सहायता

पहुँचाई है, इसमें संदेह नहीं किया जा सकता। किन्तु यह ठीक है कि अंग्रेजी राज होने के कारण अंग्रेजों की भाषा ने हम पर पूरा अधिकार जमा लिया था। हमें अब उन अधिकारों से मुक्त होने का प्रयास अवश्य करना चाहिए।

साहित्य के अतिरिक्त समाज शास्त्र, राजनीति शास्त्र तथा विज्ञान आदि की जितनी भी चीजें हैं उनका हिन्दी रूपान्तर अवश्य और अविलंब होना चाहिए, किन्तु साहित्य के साधना-क्षेत्र से साहित्यिक साधकों के प्रति नवीन पीढ़ी को उदासीनता की प्रवृति दान देना पाप होगा। अभी तक हम हिन्दी हिन्दुस्तानी के झगड़े ही में उलझे थे। वर्द्धा की आवाज, और तो सम्मेलन की आवाज और—दिल्ली का तो कहना ही क्या ? इस तरह बहुमुखी आवाज के पारस्परिक संघर्ष के कारण अब जो परिणाम सामने आया है वह समीचीन, युक्ति युक्त और संगत है। हिन्द संघ की राष्ट्र भाषा हिन्दी मानली गई यह ठीक ही हुआ और इस निर्णय की प्रशंसा होनी ही चाहिए।

किन्तु बच्चों की पोथियों में अभी भी हिन्दुस्तानी सप्रयास बोल रही है और ऊपर की कक्षाओं में हिन्दी का स्वर तीव्र है। इस विचित्र वैषम्य को देखकर कुछ भय होता है कि—कहीं ऐसा न हो कि विद्यार्थियों के दो चार जत्थे एक दूसरे ढंग की गढ़ी हुई भाषा को लेकर आगे बढ़ें और फिर एक दूसरी भाषा का सूत्रपात हो। अतएव पुस्तकों के प्रकाशन में किसी न किसी ठोस एवं दृढ़ नीति का

अवलंबन आवश्यक है। बाद में अंग्रेजी की स्थिति पर सोच विचार कर लिया जायगा।

अतः पंद्रह वर्ष की जो अवधि हमारे सामने है उसमें जब तक हम किसी निश्चित लक्ष्य तक नहीं पहुँच जाँय तब तक अंग्रेजी पर बलात्कार करने का कोई अर्थ नहीं होगा। धोबी का कुत्ता बनना तो कभी भी ठीक नहीं है — ठौर तो चाहिए ही — घाट हो अथवा घर। इसलिए ज्ञान-विज्ञान के प्रत्येक क्षेत्र पर हिन्दी का पूर्ण अधिकार होना जरूरी है किन्तु अंग्रेजी की भी शिक्षा उचित एवं अनिवार्य रूप से होनी ही चाहिए नहीं तो विदेश से आए हुए अंग्रेजी के तार को पढ़वाने के लिए गाँव से शहर, तथा देश से विदेश जाना पड़ेगा। हिन्दी एक राष्ट्रीय भाषा बनने की राह पर है और अंग्रेजी अन्तराष्ट्रीय भाषा सिद्ध हो चुकी है—अतः जल्दीबाजी नहीं होनी चाहिए। जल्दी का काम शैतान का होता है और हम इन्शान हैं इसलिए हमारा हर कदम सोच समझ कर उठना चाहिए। हमारे लिए तुलसी भी प्रिय हैं और शेक्सपीयर भी।

"मंदिर और महंथ"

भारतवर्ष युगों से देवताओं का देश रहता आया है किन्तु देवालयों की स्थापना ने अब दूसरा ही रूप धारण कर लिया है। कितनी जगहों में तो ठाकुरवाड़ियाँ केवल इसलिए बन गई हैं कि बनाने वाले को अपने महाजनों से ठाकुर जी के बहाने कन्नी काटनी है। ऐसी जगहों में कपट-छल आदि की ही अधिकता रहा करती है। एक-एक ठाकुर जी को सैकड़ों बीघे जमीन हैं। किन्तु पुजारी को केवल ४ रुपये प्रति मास वेतन के रूप में मिला करते हैं—महंगी की कोई चर्चा तक नहीं। बेचारे ठाकुर जी को भी चार लिट्टियाँ प्रति शाम मिल जाती हैं और शेष रकम ठाकुरद्वारे के व्यवस्थापक महोदय की जेब में चली जाती है, क्यों कि ठाकुर जी के सच्चे श्रद्धालु सेवक तो वे ही हैं।

ठाकुरवाड़ियों के अधिकांश मोटे व्यवस्थापक प्राय: निर्वंश हुआ करते हैं और अपनी मृत्यु के बाद किसी भोगने वाले के अभाव में बेचारे उस धन के सदुपयोग के लिये सारी जायदाद को रजिष्ट्री करके ठाकुर जी के श्री चरणों में अर्पित कर देते हैं। बहुधा उनकी मृत्यु के बाद वह ठाकुरवाड़ी कुछ दिलफेंक व्यक्तियों का अखाड़ा बन जाती है और झूले के अवसर पर ठाकुर के साथ-साथ हिंडोले पर झूलने का मजा उड़ाया जाता है। किसी-किसी गाँव में पांच ठाकुरवाड़ियाँ हैं और उनमें परस्पर प्रतियोगिता भी चला करती है। इनकी ठाकुरवाड़ी में पाँच रंडियाँ तो, उनकी में तीन; इनकी ठाकुरवाड़ी में पेड़े प्रसाद के रूप में बँटते हैं तो उनकी ठाकुरवाड़ी में किसमिस जहाँ शिवजी की बूटी गाँजे का भी प्रवन्ध है। जहाँ इसकी व्यवस्था नहीं रहती वहाँ केवल मक्खियाँ उड़ा करती हैं। इस तुलनात्मक समीक्षा का कभी-कभी बड़ा लाभदायक परिणाम हो जाता है और भक्तजनों को कईबार गाँजे की कली मिल जाती है और उसे फूँकते हुए वे बड़ी मस्ती में अपनी कौड़ी सी आँखों के लाल डोरों को ताने—जो न पिये गाँजे की कली, उस लड़के से लड़की भली—कहा करते हैं। संक्षेप में ठाकुरवाड़ियों का प्राय: ऐसा ही वातावरण रहा करता है। हाँ ठाकुर के महाप्रसाद की बात छूट सी रही है—पहले कबीर आदि के जमाने में उस प्रसाद का

अधिकारी पुजारी हुआ करता था- जिन पर व्यंग्य करते हुए कबीर ने कहा भी था कि—

लाडू लावर लापसी पूजा चढ़ै अपार,
पूजि पुजापा लै चल्यो दै मूरति मुखछार।

किन्तु अब तो महाप्रसाद चाहे स्वयं मालिक ही को मिलता है अथवा मैनेजर को।

अब सोचना यह है कि देश के उत्थान में इन सारी ठाकुरबाड़ियों अथवा वहाँ के वातावरण से कुछ भी सहायता मिल पाती है? उत्तर होगा, हर्गिज नहीं। तो फिर कुछ न कुछ प्रबन्ध तो होना ही चाहिए। एक गाँव की ५ ठाकुरबाड़ियों में लगभग २०० बीघे जमीन हैं—क्या ही अच्छा होता, यदि इन ५ ठाकुरबाड़ियों को तोड़ कर एक देवालय बना लेते और सारी जायदाद की आमदनी से उसका प्रबन्ध होता। वह एक ठाकुरबाड़ी किसी बाबू या दास की न होकर सारे गाँव की होती—'प्राइवेट या पर्सनल गाड' का जमाना तो अब रहा भी नहीं। ठाकुरबाड़ी की सम्मिलित जायदाद से गाँव के शिशुओं की अनिवार्य तथा निःशुल्क शिक्षा, गाँव के औषधालय तथा पुस्तकालय आदि के प्रबन्ध होते, और ठाकुर जी के महोत्सव भी होते। गाँव के लोगों की एक रामनवमी, एक जन्माष्टमी, एक प्रार्थना होती तथा एक ही त्योहार होता। मूर्तियों का संकलन भी

कुछ कलात्मक ढंग से होता—राम, कृष्ण, बुद्ध, महावीर, चाणक्य, शंकर, गाँधी आदि सभी विभूतियों की मूर्तियाँ रहतीं और हम उन विभूतियों की मूर्तियों में ही अपने देश का आदर्श एकबार निहार लेते।

प्रान्तीय सरकार के सामने देश की शिक्षा की समस्या सब से बड़ी समस्या है, आर्थिक समस्या भी कुछ कम जटिल नहीं है। भूखी और अशिक्षित जनता पर केवल शासन का प्रभुत्व दिखाना कोई सुशासन नहीं है। ऐसी दशा में ठाकुरबाड़ियों की इस योजना की ओर उनका ध्यान अवश्य जाना चाहिए। हमारा तो विश्वास है कि इन चीजों का सामूहिक रूप होते ही उनका महत्व बढ़ जायगा, जनता में एक नई सांस्कृतिक लहर फैल उठेगी, परंपरा का कोढ़ इस एक ही प्रयास से दूर हो जायगा।

सभी ईसाई प्रार्थना के लिए एक खास स्थल पर ही जुटते हैं, सभी मुसलमान खुदा के बन्दे एक ही मस्जिद में सम्मिलित हो अपने खुदा की पुकार करते हैं किन्तु ठाकुरबाड़ियों में श्रद्धाभाव रखनेवाले वैष्णव अपनी-अपनी खिचड़ी अलग-अलग पकाते हैं। फलस्वरूप इनकी धार्मिक भावना में अनुशासन का एकदम अभाव है। सामूहिक ठाकुरबाड़ी की योजना की सफलता से सामाजिक संगठन को भी अत्यधिक बल मिल सकेगा और आनेवाली सन्तान के मस्तिष्क पर भी बहुदेववाद एवं बहुठाकुरबाड़ीवाद के

भूत नहीं चढ़ सकेंगे। इसके अतिरिक्त भावी समाज के नवनिर्माण में भी इससे सहायता मिल सकेगी।

गाँव के मन्दिरों के साथ-साथ महंथों तथा मठाधीशों के सम्बन्ध में भी हमें अनिवार्यरूप से सोचना चाहिए। महंथ अथवा मठाधीश प्रायः अकेले ही हुआ करते हैं। किन्तु वे अपनी बड़ी संपत्ति का एक कण भी देश या समाज के नाम पर न्योछावर नहीं कर सकते। इन महंथों का कहना है कि ये हिन्दू-धर्म की रक्षा में अपने प्राणों की बलि चढ़ा देंगे किन्तु आपत्ति काल में धर्म ने इन्हें जब-जब पुकारा है, तब-तब ये लंगोटी संभालते रह गए हैं। वस्तुतः बात यह है कि ये ऋषि-महर्षि हर्गिज नहीं हैं, ये रंगीन विलासी राजाओं के ही सहवर्गी हैं। इन्हें दासियाँ चाहिए, हाथी-घोड़ा-पालकी चाहिए, खड़ाऊँ के बदले नागरा के जड़ीदार जूते चाहिए; क्योंकि पाप की मलिन छाया ने इन्हें निष्प्राण एवं दुर्बल बना दिया हैं, कमजोर बना दिया है। ये महंथ रामानुज, विट्ठल तथा वल्लभ के नाम पर क्या-क्या करते हैं—इनका लेखा-जोखा भी पापपूर्ण है। कहने को ये कट्टर वैष्णव हुआ करते हैं किन्तु मलमल के साफ कुरतों पर किसानों के खून के धब्बे इनके स्मार्त वैष्णव होने की घोषणा कर ही देते हैं। किसानों को परस्पर मुकदमा लड़वाना ही इनकी चर्या के विषय रहे हैं।

ऐसी दशा में गाँव की ठाकुरबाड़ियों के सुधार के साथ इनकी जमींदारियों का भी सदुपयोग होना चाहिए।

इनकी सारी संपत्ति से प्रान्त तथा देश के विकास की कितनी ही प्रगतिशील योजनाओं में मदद मिल सकती है। न्याय और धर्म के नाम पर उत्तरदायी सरकार का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वह या तो जनता के हित के लिए सारी जायदाद बाँट दे या रचनात्मक योजनाओं में लगा दे।

—::o::—

"विश्वविद्यालय की परीक्षायें"

विश्वविद्यालय की परीक्षाओं के संबंध में बहुत कुछ सुना भी और बहुत कुछ देखा भी है। परीक्षायें छात्रों की योग्यता के मापयंत्र हैं—यदि पास तो पास, या फेल तो फेल! यदि बी० ए० की परीक्षा आपने पास कर ली तो आप कलाकुमार हो गए नहीं तो समझ बी० ए० फोस ही। प्राचीन युगों में भी छात्रों की योग्यता मापी जाने की प्रणाली थी—लिखवाकर—पूछ कर आदि। आज भी उसी की धूमिल रेखा है; किन्तु परीक्षाओं की नैतिक महत्ता की कीमत कम हो गई है। इस नैतिक महत्ता के कम होने का कारण हम सबों का सामूहिक नैतिक पतन ही है। शिक्षा का सब से बड़ा धर्म है नैतिक उत्थान को अग्रसर करना और शिक्षा की आवश्यकता वस्तुतः इसलिए है कि उससे व्यक्ति

का व्यक्तित्व विकासोन्मुख होता है। शिक्षा के नागरिक महत्व के संबंध में चाहे जितना भी कहा जाय थोड़ा है क्योंकि प्रजातंत्र देश के नागरिकों के लिए शिक्षा की महत्ता बहुत है। और यह विश्वासपूर्वक कहा जा सकता है कि शिक्षित निर्वाचकों के अभाव में कभी भी कोई दायित्वपूर्ण राज्य की कल्पना नहीं की जा सकती है। प्रो० लास्की प्रजातंत्र के नागरिक की योग्यता के संबंध में यों कहते हैं—
"He must be traind to make judgement. He must learn to weigh evidence. He must learn to choose between alternatives between which he is called to decide"

"उसे निर्णयात्मिका शिक्षा मिलनी चाहिये, प्रामाणों को समझने के साथ-साथ पक्षांतरों में किसी एक को चुन लेने की योग्यता भी होनी चाहिए"। अतएव अनैतिकता की गोद में पली शिक्षण-संस्थायें देश को नैतिक बल नहीं दे सकतीं। शिक्षा-विभाग का सब से बड़ा दायित्व धर्मशाले बनवाना नहीं; देशकी नैतिकता का उत्थान करना है। और यदि यही नहीं हुआ तो उसके हेड आफिस की जिम्मेदारी ही क्या हुई?

ऊपर की बातें सिद्धान्तमात्र से संबंध रखती हैं—नाला किन्तु दूसरे ढंग से वह रहा है। विश्वविद्यालय के अधिकारियों में सब से बड़े अधिकारी लाट ही साहब होते

आ रहे हैं, और दूसरे हैं उपकुलपति, जिनका नाम भी लाट-साहब द्वारा ही व्यक्ति की योग्यता के अतिरिक्त उसके बाह्याडंबरों से भी प्रभावित होकर उद्घोषित होता आया है। अध्यापक यहाँ उपकुलपति नहीं हो सकते, क्योंकि विधान के अन्तर्गत ऐसे नियम या उपनियम संभवतः नहीं हैं। जो भी हो हमें कहना केवल यही है कि इन कुलपतियों तथा उप-कुलपतियों को शिक्षा-संबंधी भावी कार्यक्रम पर अनिवार्यरूप से सोच लेना चाहिए अन्यथा कमीशनों की रिपोर्ट पुस्तकी विद्यामात्र रह जायगी। यदि नैतिकता डूबी तो संस्कृति की जीर्ण नाव डूब ही जायगी।

आज की परीक्षाओं में गोरख-धन्धा पूरा हो रहा है। कोशिशें और पैरवियाँ इस तरह चला करती हैं जिस तरह पुलिस थानों अथवा कचहरियों में चला करती हैं—जहाँ नैतिकता की छाया भूलकर भी नहीं पहुँच सकी—अतीत वर्तमान एवं भविष्य तीनों बराबर दीखता है। अभी भी घूस जारी ही है, चोरबाजार भी उसी अनुपात से गर्म है। पर एक बात है—परीक्षकों को दलालों के मारफत रिजर्व बैंक के कागजी पुलिन्दे नहीं मिलते—नहीं तो ये भी क्या-क्या न करते?

परीक्षा की प्राचीन पद्धतियों को आप प्राचीन भारत के इतिहास के पृष्ठों में देख सकते हैं किन्तु आधुनिक प्रणाली इससे कुछ भिन्न हो रही है—वह निराकार है, निराकार

इसलिए कि पैरवी के सारे पत्र को पढ़ जाँय आपको केवल शून्य दीख पड़ेगा—एकदम "सर्व शून्यम्", किन्तु पत्रवाहक से जानकर आप उस शून्य में झंकार सुनने लगेंगे—प्रकाश देखने लगेंगे। पत्रवाहक भी कम सुतीक्ष्ण नहीं हुआ करता, वह पत्र बाँचने के समय परीक्षक की भावमुद्रा को परखने की कोशिश करेगा और यदि उनकी मुद्रा की रेखायें अनुकूल दीख पड़ीं कि वह नत हो जायगा और खुलासा किस्सा कहकर ही दम लेगा। अब आपने निराकार का तथ्यार्थ समझ लिया होगा। अच्छा तो निराकार से साकार की ओर आइए—

परीक्षार्थी वर्ग चाहे वे किसी भी केन्द्र के क्यों न हों—परीक्षा भवन में प्रवेश ही इस इरादे से करते हैं कि—'देखा जायगा'। इनका देखा जायगा अब अधिक गुरुतर और अधिक केन्द्रित होता जा रहा है क्योंकि इस वर्ग ने ममता के कर्णधार अभिभावकों को भी साथ कर लिया है। इरादा है पास करना—चोरी तो चोरी, पैरवी तो पैरवी। End चाहिए Means नहीं। किताबें फट जाँय तो फट जाँय, कापियाँ बदल गईं तो यह भी कोई बड़ी बात नहीं—इन्हें तो पास करना है। परीक्षा केन्द्र के किरानी बाबुओं का क्या कहना? परीक्षा शुरु हुई तो वे पुलकित हो उठे। मन में आया तो कोट की जेब पर गुलाब का फूल ही खोंस लिया। इस पुलक को देखकर आप तुरत यह सोच ले

सकते हैं कि परीक्षकों की तालिका इन्हीं के पास है। केन्द्र से लेकर बाहर की प्रत्येक जगह में इसी तालिका का भंडाफोड़ होता है। हाँ, कभी-कभी कापियों के बन्डलों को स्टेशन ले जाकर बुक करनेवाले चपरासी जी की भी बड़ी खुशामद होती है। बूकिंग आफिस के किरानी बाबू भी इस प्रयास में बहुधा योगदान दिया करते हैं और छात्र बन्डल के तौल से विषय एवं स्थान दोनों का पता लगा लेते हैं। फिर तो अभिभावकों के साथ अथवा लब्धपत्र के साथ हर घर की किवाड़ खटखटायी जायगी। यदि यह भंडाफोड़ नहीं हो तो अच्छा रहे। यह एक ऐसा रोग है जो छात्रों के मस्तिष्क को खा जायगा, उन्हें बर्बाद कर देगा। वे गिर जाँयगे—उनकी जवानी डूब जायगी और कुछ दिनों बाद वे ऐसा गिर जाँयगे कि उठने तक की क्षमता नहीं रह पायेगी।

और तो और कुछ खास परीक्षायें तो ऐसी हैं जिनमें गुरु प्रसाद की ही महत्ता एवं महिमा है—वे परीक्षायें हैं आनर्स की तथा एम० ए० की। इनकी भी बड़ी-बड़ी बातें हैं। आपस में लड़के नाइन्थ पेपर (खुशामद आदि) की भी बातें सोचते हैं एवं उसकी तैयारी अन्य आठ पेपरों से कम लगनशीलता और स्फूर्ति से नहीं करते। इस पेपर की सब से बड़ी विशेषता तथा क्षमता यह है कि यह जड़ से उपयुक्त खाद द्वारा उन आठ पेपरों में भी पौष्टिक रस का संचार

करता है। इस तरह निर्धारित आठ पेपरों में बल पहुँचता है और अभीष्ट फल की सिद्धि में गुरु का यह प्रसाद समाचार पत्रों में In order of merit (ऊपर-नीचे) के रूप में मिलता है। जिसकी जैसी चाकरी।

"शिक्षा और शिक्षक"

बच्चों को शिक्षित करने का अर्थ केवल पहाड़ा पढ़ाना या रहीम के दोहों को रटाना ही नहीं है। मिट्टी के उन कोमल पुतलों को आज़ाद मुल्क के नागरिक ढाँचे में ढालना ही शिक्षा का वास्तविक तात्पर्य है किन्तु हम ऐसी शिक्षा नहीं दे पा रहे हैं। शिक्षण पद्धति में एक नवीन किन्तु सुस्थिर व्यवस्था के लाने का उपयुक्त अवसर आ गया है। यदि समय पर नूतन व्यवस्था का बीजारोपण नहीं हो सका तो आनेवाला भविष्य भी कुछ इसी प्रकार का होगा। अतः शिक्षण संस्थाओं से संबंध रखनेवाली प्रत्येक अधिकारी संस्था का यह धर्म एवं कर्त्तव्य हो जाता है कि वह नवीन भारत में शिक्षा के सुव्यवस्थित विकास पर ध्यान दे।

शिक्षण संस्थायें अभी तक प्रायः उपेक्षित ही रही हैं। हमारे अंग्रेज प्रभुओं को भारत के लिए योग्य नागरिक तैयार करना युक्तियुक्त नहीं था, क्योंकि वे "पयः पानं भुजं-

गानां केवलं विष वर्द्धनम्" के सिद्धान्त को भलीभाँति समझ चुके थे। पर अब तो अपने देश में अपना राज्य हो चुका और सर्वत्र प्रजातंत्र की दुहाई भी दी जाने लगी है। अतः सच्चे अर्थ में प्रजातंत्र की स्थापना के पूर्व हमें अपने लोगों को पूरी तरह समझदार बना देना है। प्राचीन व्यवस्था कोई भी नई नीति सँभाल नहीं सकती।

शिक्षण पद्धति में यदि किसी भी प्रकार के सुधार की अपेक्षा है तो शिक्षकों की आर्थिक अवस्था पहली चीज होगी। क्योंकि वे जब तक उदरपूर्ति की चिन्ता से मुक्त नहीं हो जाते तब तक नई विचार धाराओं के साथ चलने की स्वतः प्रेरणा उन्हें हो नहीं सकती। बालकों से पूर्व शिक्षकों को उनके योग्य बनाना है। देश में योग्य शिक्षकों का सर्वथा अभाव है। निम्न प्राथमिक पाठशालाओं के शिक्षकों की योग्यता का स्तर इतना नीचा है कि वे न तो स्वयं पढ़लिखकर विद्वान् हो सकते हैं और न उनकी छाया में विकास चाहनेवाले छात्र लोक-लोक का आलोक ही पा सकते हैं। कहा जाता है कि उन्नत देशों में बच्चों के स्कूलों के शिक्षक बड़े योग्य बड़े अनुभवी एवं बड़े वेतन पानेवाले होते हैं किन्तु हमारे देश का यह सब से बड़ा दुर्भाग्य है कि सब से कम पढ़े लिखे लोग ही भावी सन्तान के भविष्य को मुट्ठी में लिए रहते हैं। टालसटाय तथा गोर्की आदि ने स्कूली शिक्षकों के स्मरणीय चित्र अपनी रचनाओं में अंकित किए हैं – रूस के शिक्षकों के जो चित्र हम उनकी रचनाओं

में देखते हैं वे आदर्श कहे जा सकते हैं, क्योंकि वहाँ के शिक्षक बड़े ही विनयी, परिश्रमी एवं जन शिक्षा के क्षेत्र में योद्धा के रूप में प्रख्यात हैं। ग्रेट ब्रिटेन ग्रामर स्कूल में भी अच्छे शिक्षकों की ही नियुक्ति होती है। लन्दन के संबंध में एक समाचार आज से १५ वर्ष पूर्व प्रकाशित हुआ था, जिसमें कहा गया था कि भारत के किसी एक विश्वविद्यालय के अंग्रेजी विभाग के अंग्रेज अध्यक्ष को ग्रामर स्कूल के प्रधानाध्यापक का स्थान नहीं मिल सका था। यह सोचने समझने की बात है। ऐसी स्थिति में शिक्षकों को योग्य बनाने एवं योग्य शिक्षकों की नियुक्ति करने का कार्य भी कम दायित्व पूर्ण नहीं है, इसे तो मानना ही पड़ेगा।

हमारे देश में शिक्षक भी अपने शिष्यों के पिता माने जाते रहे हैं। "मातृ देवो भव" "पितृ देवो भव" के साथ-साथ "आचार्य देवो भव" भी हमारे देश का पुराना आदर्श है, किन्तु प्रतिकूल कारणों एवं परिस्थितियों से हमारे शिक्षक भी आदर्श च्युत हो चुके हैं। शिक्षण संस्थाओं में प्रत्येक दिसम्बर में पास-फेल के चिट्ठे निकाल दिये जाते हैं, किन्तु लड़कों के चारित्रिक विकास से उन संस्थाओं को कुछ भी मतलब नहीं रहता। स्थान-स्थान पर 'St, Xaviers' जैसे स्कूलों को देखकर भी हम लज्जा का अनुभव नहीं करते।

ट्रेनिंग स्कूलों तथा कॉलेजों में बालमनो-विज्ञान का पठन-पाठन तो होता है किन्तु उस मनोविज्ञान का उपयोग

शिक्षण संस्थाओं में नहीं किया जाता। कहने को तो स्कूलों के निरीक्षण तथा उसकी सुव्यवस्था आदि के लिए सब-इन्सपेक्टर से लेकर डिविजनल इन्सपेक्टर तथा ए० डी० पी० आई, डी० डी० पी० आई एवं डी० पी० आई० तक होते हैं, किन्तु दफ्तरों के कागज़ात इन्हें अवकाश कहाँ दे पाते कि ये घूम-घूम कर नए भारत के नवीन नागरिक को नई दिशा में ले चलने का प्रयास करें। इस दशा में एक ही सुझाव समीचीन दीख पड़ता है, वह यह कि बिना सामूहिक सहयोग के जन्म भर के कोढ़ को एक रविवार के उपवास से दूर नहीं किया जा सकता। सरकार की सहायता तो आवश्यक है ही, किन्तु हर काम के लिए सरकार की ओर ताकना निकम्मापन है।

शिक्षकों के लिए छात्रों तथा उनके अभिभावकों से पूरा सम्पर्क रखना अत्यधिक आवश्यक है साथ ही प्रत्येक छात्र की प्रगति की डायरी रखना भी उनका कर्त्तव्य होना चाहिए। उन्हें यह भी देखना है कि किस छात्र की प्रतिभा का झुकाव किस ओर है? स्कूल के छात्र व्यायाम आदि में दिलचस्पी लेते हैं या नहीं—यह देखना भी आवश्यक है क्योंकि इस देश के छात्र व्यायाम को जीवन का आवश्यक अंग नहीं समझते—जिसके फलस्वरूप भरी जवानी में ही उनकी सूरतें विवर्ण हो जाती हैं। पर इतने सारे कार्य शिक्षकगण कैसे सँभाल सकेंगे? जब तक कि उन्हें अपने काय के प्रति अनुराग नहीं होगा, अपनी जिम्मे-

वारियों के प्रति आदर के भाव नहीं होंगे। दायित्व को निबाहने वाले ईमानदार शिक्षक कम ही रह गए हैं। शिक्षकों का बहुत बड़ा समुदाय तो शिक्षा और राजनीति के मधुर मिश्रण का फल भोगना चाहता है। म्युनिसिपिलेटी एवं बोर्ड के चुनाव में दिलचस्पी लेने वाले तथा सीनेट में गुटबन्दी करके निजी स्वार्थ सिद्ध करने वाले शिक्षक कदापि देश के लिए हितकारी नहीं हो सकते। यदि शिक्षकों का समुदाय इसी प्रकार की स्वार्थ-सिद्धि में लगा रहेगा तो किसी भी प्रकार की शिक्षण योजना सफल नहीं हो सकेगी। अतएव यह आवश्यक है कि शिक्षकगण अपनी जिम्मेदारियाँ समझें एवं देश के भव्य निर्माण में अपनी प्रतिभा का दान दें।

बच्चों के स्कूलों को भी केवल स्कूल बना कर नहीं रखना है—उन्हें अब जातीय केन्द्र (Community Centre) के रूप में परिवर्तित कर देना चाहिए और उसमें पुस्तकालय, रेडियो, पत्र तथा बायसकोप आदि की समीचीन व्यवस्था रहनी चाहिए जिनका उपयोग दिन में बच्चे करें और रात में वयस्क। वयस्कों की शिक्षा के लिए भी एक ही प्रकार के साधन की आवश्यकता है। प्रजातंत्र के वयस्कों का उत्थान अविलंब होना चाहिए क्योंकि मूर्खमत-दाता जड़-प्रतिनिधि ही चुन सकेंगे। आज हम संक्रान्ति युग से गुजर रहे हैं। संक्रान्ति युग का मनुष्य आशावादी

कम तथा निराशावादी अधिक हुआ करता है; ऐसी स्थिति में अगर आशा का सहारा नहीं होगा तो हमारा भविष्य निश्चित रूप से अंधकारमय हो जायगा। अतः भविष्य के लिए वैज्ञानिक चमत्कारों से पूर्ण उपकरणों की सहायता लेना पूर्णरूपेण आवश्यक एवं अनिवार्य है। चलचित्रों की उपयोगिता के संबंध में लिखते हुए डा० स्पारोज पी० स्कोरस ने कहा है—

Young as it is, the motion picture art is already mature, highly organized, world wide in its scope and an unbreakable link between the old world and the new, because it combines education and enlightenment with entertainment and sight with sound."

"चलचित्र यद्यपि अभी अपनी युवावस्था में है तथापि वह प्रौढ़, सुगठित तथा विश्वव्यापी है; साथ ही वह प्राचीन तथा नवीन संसार को मिलाने वाली अटूट कड़ी के समान है क्योंकि इसमें एक साथ ही शिक्षा, मनोरंजन के साथ प्रबोधन तथा दृश्य के साथ ध्वनि के मिश्रण हैं।" अतः चलचित्रों के महत्व में किसी को भी विवाद नहीं हो सकता। इसीलिए क्या बच्चे एवं क्या वयस्क सबों की उचित शिक्षा के लिए प्रत्येक स्कूल में इसकी व्यवस्था अनिवार्य है। यहाँ हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि हमारे यहाँ के फिल्म व्यवसाय का स्तर बहुत

नीचा है और अपनी हीनावस्था के कारण ये चलचित्र हमारे सर्वतोमुखी विकास में पूर्ण सहयोग नहीं दे सकते। जन-शिक्षण एवं प्रजातांत्रिक प्रचार के इतने बलवान शस्त्र को अपनी हीनावस्था में रहने देना एक प्रगतिशील राष्ट्र के लिए किसी भी दृष्टि से हितकर तथा श्रेयष्कर नहीं है।

स्कूलों के जातीय केन्द्र के रूप में परिवर्तित कर देने की चर्चा ऊपर की जा चुकी है; और यदि प्रत्येक स्कूल को हम जातीय केन्द्र बना सके तो ग्राम पंचायत के संचालन का कार्य भी वहीं होने लगेगा और ग्रामीणों को विचार विमर्श करने के अवसर पर वहाँ के शिक्षकों की निरपेक्ष रायसलाह भी मिल सकेगी। इस प्रकार शिक्षकगण भी बच्चों, वयस्कों तथा बूढ़ों के सान्निध्य सम्पर्क में आ जा सकते हैं और अपनी खोई हुई प्रतिष्ठा को पुनः पा ले सकते हैं।

"यह होली का पर्व"

फाल्गुन की पूर्णिमा के दिन होलिकादहन होता है और होली का उत्सव मनाया जाता है। यों तो यह उत्सव देश-व्यापी हो गया है किन्तु आज से कुछ दिन पूर्व इस उत्सव में जो उल्लासपूर्ण उमंग दीख पड़ती थी वह अब नहीं रही। इसका एकमात्र कारण हमारी पस्ती और व्यर्थ के आत्म-सम्मान एवं झूठी भद्रता का भाव है। इस पर्व का प्रारम्भ-काल हिरण्यकशिपु का ही समय था, ऐसा अनुमान किं-वदन्तियों के आधार पर किया जाता है। कहा जाता है कि होलिका हिरण्यकशिपु की बहन थी और उसे यह वरदान प्राप्त था कि वह प्रज्जवलित अग्नि में पैठने पर भी नहीं जल सकेगी। फलस्वरूप भक्त प्रह्लाद के पिता उस क्रूर निर्मम दैत्य ने उसे जला कर मार डालने के लिए

अपनी बहन को राजी किया। होलिका प्रह्लाद को गोद में लेकर लहलहाती हुई चितापर बैठी तो, किन्तु स्वयं जलकर भस्म हो गई और प्रह्लाद का बाल भी बाँका नहीं हो सका। इस पौराणिक कथा को वर्तमान होलिकोत्सव से क्या संबंध है, कहा नहीं जा सकता और न इसके आधार पर यही अनुमान लगाया जा सकता है कि यह पर्व किसी वर्ग-विशेष या वर्णविशेष से ही संबद्ध है। प्राचीन लेख भी इस संबंध में मौन ही हैं।

होली के उत्सव के दिन लोग गालियाँ बका करते हैं। गाली बकने का विधान इस पर्व के साथ कैसे आ गया यह भी प्रामाणिक ढंग से नहीं कहा जा सकता किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि होलिका दहन के पश्चात् लोग हिरण्यकशिपु की स्वनामधन्य बहन की निन्दा एवं भर्त्सना करते थे। इसी परिपाटी ने शनैः शनैः गाली-गलौज का रूप धारण कर 'लिया।' बादशाह जहाँगीर ने संभवतः इसी आधार पर अपने जहाँगीरनामा' में शूद्रों के संबंध में लिखते हुए इस पर्व के संबंध में भी कुछ लिखा है। बादशाह के ही शब्दों में— "चौथा शूद्रवर्ण है। यह हिंदुओं का सबसे नीचा जत्था है। यह सब की सेवा करता है। जो ऊपर के वर्णों के अधिकार हैं उससे इसको कुछ प्रयोजन नहीं है। इसका त्योहार होली है, जो इसके निश्चय में वर्ष का अंतिम दिन है। यह दिन असफन्दार महीने में आता है जब सूर्य

मीन राशि में होता है। इस दिन की रात को रास्तों और गलियों में आग जलाते हैं, जब दिन निकलता है तो पहर भर तक एक दूसरे पर राख डालते हैं। फिर नहा कर कपड़े पहनते हैं, बागों और जंगलों में विचरने चले जाते हैं।"

जहाँगीरनामा के उक्तअंश को ध्यान में लाने पर कुछ ऐसा प्रतीत होता है मानो यह पर्व खास शूद्रों का ही हो। उत्सव के रंग-ढंग एवं रीति-नीति को देखकर यह कहा जा सकता है कि यह पर्व उस वर्ग का था या रहा होगा जो विशेष संस्कृत नहीं था। किन्तु इस पर्व का संबंध किसी संस्कृत वर्ग से भी था, यह जहाँगीर बादशाह नहीं कहते। ऐसी स्थिति में पर्व के प्रचलित एवं व्यापक रूप को देखकर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि यह उत्सव सभी वर्ग तथा सभी जाति के लोग मनाया करते हैं। सरकारी और गैरसरकारी दफ्तरों में अन्य पर्वों की छुट्टियों की तरह इस पर्व के लिए भी खास छुट्टी है। हाँ, यह ठीक है कि संस्कृत व्यक्ति इसे एक खास ढंग से मनाते हैं और जो लोग असंस्कृत अथवा कम पढ़े लिखे या अनपढ़ हैं, उनका आयोजन कुछ दूसरे ढंग का हुआ करता है। 'न्यूइयर्सडे' के दिन ग्रीटिंग्स भेजने वालों अथवा पिकनिक करने वालों के लिये भले ही यह असंस्कृत पर्व हो, उपेक्षितों अथवा अनपढ़ों का पर्व हो, किन्तु वास्तव में यह एक राष्ट्रीय पर्व

है। विक्रम संवत् का प्रथम दिन होली की पूर्णिमा का प्रथम प्रभात ही है। अतएव हम वर्षान्त मनाकर नवीन वर्ष में पदार्पण उसी दिन करते हैं—नव वर्ष की शुभकामना भेजने की हमारे लिए वही पवित्र एवं मान्य तिथि है। होली गाने वालों का जत्था द्वार-द्वार पर जाकर 'सदा आनन्द रहे यहि द्वारे मोहन खेले होरी हो' कह कर शुभकामना किया करता है। ढोल, झांझ, मृदंग और झंजीर की ध्वनि से सारा वायुमंडल ही मंगलपूर्ण बन जाता है। उस महोत्सव के दिन को किसी खास जाति या वर्ग से बाँध देना या बँधा हुआ समझना किसी भी दशा में युक्तियुक्त नहीं है।

होली वसन्त पंचमी के बाद वसन्त का दूसरा उत्सव है। विद्यापति की कविताओं में होली यानी वसन्तोत्सव का यह चित्र कभी भुलाया नहीं जा सकता, जिस चित्र से उमंग और उल्लास के साथ-साथ राग-रस-रंग भी टपकता है:—

"बाजत द्रिगि द्रिगि धौद्रिम द्रिमियाँ
नटति कलावति माति श्याम संग
कर कर-ताल प्रबन्धक ध्वनियाँ
डम डम डंफ डिमिक डिम मादल
रुनु झुनु मंजीर बोल

किंकिनि रन-रनि वल-आ कन-कनि
निधुवन रास तुमुल उतरोल"
अथवा
"मधुर मृदंग रसाल, मधुर मधुर करताल
मधुर नटन गति भंग, मधुर नटिनि नट संग
मधुर मधुर रसगान, मधुर विद्यापति भान।"

ब्रजभूमि का तो यह पर्व अत्यन्त ही प्यारा पर्व है। ब्रज की वनितायें होली के दिन जब रंग-गुलाल और पिचकारी ले-लेकर अपने कन्हैया की याद में अबीर उछालती हैं तो कृष्ण के रास का एक मनोरम दृश्य सामने आ जाता है। देवताओं में भी कोई ऐसे नहीं जिनके नाम से होली के एक दो पद न हों। मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान रामचन्द्र एवं साधु भरत भी इस उत्सव के गीतों में मिल जाते हैं। देहात के कवियों ने पूज्य बापू के हाथों में भी अबीर की झोली एवं पिचकारी रख छोड़ी है। हिन्दी के शृंगार-काल के कवियों ने अनेकों होली-पदों की सृष्टि की है जिनमें यौवन के रस-रंग व्यक्त हुए हैं। बच्चन जी अपनी मधुशाला में दिन को होली रात को दिवाली की चर्चा कर इन दोनों पर्वों के हर्षोल्लास पर प्रकाश डालते हैं। महाप्राण निराला की गीतिका का यह गीत होली का ही है—

नयनों के डोरे लाल गुलाल-भरे खेली होली
जागी रात सेज प्रिय पति-संग रति सनेह-रंग घोली

दीपित दीप-प्रकाश, कंज-छवि मंजु-मंजु हँस खोली
मली मुख चुम्बन-रोली।

प्रिय-कर-कठिन-उरोज-परस कस कसक मसक गई चोली।
एक-वसन रह गई मन्द हँस अधर-दशन अनबोली
कली-सी काँटे की तोली।

मधु-ऋतु-रात मधुर अधरों की पी मधु सुध-बुध खोली।
खुले अलक, मुँद गए पलकदल, श्रमसुख की हद होली—
बनी रति की छवि भोली।

बीती रात सुखद बातों में प्रात पवन प्रिय डोली
उठी संभाल बाल, मुखलट, पट, दीप बुझा हँस बोली
रही यह एक ठिठोली।

कहने का तात्पर्य यह कि हमारे काव्य साहित्य का एक महत्वपूर्ण अंश होली के गुलाबी रंग से रंगा हुआ है जिसमें हमारे सामाजिक जीवन के हर्ष एवं उल्लास व्यक्त हुए हैं। वस्तुतः होली और दीवाली हर्ष एवं उल्लास के ही पर्व हैं। हर्ष और उल्लास का यह महापर्व सबों का है किसी एक दल या जत्था का नहीं।

हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन के इतिहास में भी इस पर्व का एक विशिष्ट स्थान रहा है, क्योंकि विदेशी वस्त्रों के बहिष्कार के समय न जाने कितने थान कपड़े संवत् की ज्वाला में जल-

जल कर खाक हुए थे और गाँधी जी के आदेश पर असंख्य लोगों ने समभाव से इस पर्व में हाथ बटाया था। किन्तु आज कुछ लोग इस पर्व को असंस्कृतों का पर्व समझा करते हैं यद्यपि ऐसी बात नहीं है। आज भी होली की रात में कितनी ही प्रियायें अपने प्रियतम की राह में प्रतीक्षा के दीप जला कर बैठी-बैठी उनकी बाट जोहा करती हैं।

"तुलसी की सुराज भावना"

गोस्वामी जी की दृष्टि इतनी प्रखर थी और सामयिकता की नाड़ी उन्होंने इस मार्मिकता से टटोली कि उनकी रचनायें आज भी रुग्ण मानसों के लिये रसायन का काम दे रही हैं। उनकी रचनायें धर्मनीति, समाजनीति, तथा राजनीति आदि के सुन्दर से सुन्दर चित्रों से भरी हुई हैं। गोस्वामी जी का आविर्भाव ऐसे समय में हुआ था "जब कि सारा देश विशृंखल, परस्पर विच्छिन्न, आदर्शहीन और बिना लक्ष्य का हो रहा था।" उसे उस समय तुलसी की आवश्यकता थी।

तुलसीदास जी इन सारी विशृंखलताओं और अनीतियों का कारण यवनों के आधिपत्य को ही समझते थे। अनीति और अनाचार सर्वत्र फैला हुआ था। विनय

पत्रिका में उन्होंने रावण की अनीतियों का उल्लेखकर यवनों के अनाचार की ओर बड़े कौशल से संकेत किया है। निम्नलिखित पंक्तियों को पढ़ें :—

"राज समाज कुसाज कोटि कटु
कलुष कुचाल नई है
नीति, प्रतीति, प्रीति, परिमितिपति
हेतु-वाद हठ हेरि दई है।"

दोहावली में भी इसी भाव का द्योतक एक दोहा आया है, जिसमें यवनों के कुशासन का उल्लेख है :—

"गोंड़ गंवार नृपाल महि यवन महा महिपाल,
साम दाम न भेद कलि, केवल दंड कराल।'

राजनीति की दुरवस्था यही थी। अतः तुलसी ने एक ऐसे राज्य की कल्पना की जो आदर्श समझा जाय और उस राज्य के राजा का धर्म प्रजा का सुख ही हो। अतः

"जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी
सो नृप अवसि नरक अधिकारी।

का सिद्धान्त स्थापित किया। साथ ही :—

मुखिया मुख सों चाहिये, खान-पान कहुँ एक।
पालै पोषै सकल अंग तुलसी सहित विवेक॥

"संक्षेप में राजा को प्रजा का निष्पक्ष पालन करना चाहिये। उसे सत्यव्रती, निर्भीक, स्वावलम्बी, मेधावी,

पराक्रमी, और स्वदेश प्रेमी होना चाहिये।" इन सभी गुणों की समष्टि जन-साधारण में नहीं मिल सकती। फलतः वह राजा राम के अतिरिक्त हो ही कौन सकता था, जिसके सिंहासनारूढ़ होते ही सारी अयोध्या प्रफुल्लित हो उठी थी।

"राम राज बैठे त्रैलोका,
हर्षित भये गये सब सोका"

तुलसी जी के मानस में मानवता के चिरंतन आदर्श भरे पड़े हैं। "मानस में धर्म और समाज की कैसी व्यवस्था होनी चाहिये, राजा-प्रजा, ऊँच-नीच, द्विज, शूद्र आदि सामाजिक सूत्रों के साथ माता-पिता, गुरु भाई आदि पारिवारिक सम्बन्धों का कैसा निर्वाह होना चाहिये, आदि जीवन के गम्भीर प्रश्नों का बड़ा ही विशद विवेचन मिलता है।" तुलसीदासजी के राम राज्य वर्णन में हमें इन संबन्धों की एक झाँकी दिखाई पड़ती है। यही तुलसी की समन्वय भावना है जहाँ कुछ झुकना और कुछ दूसरों को झुकने के लिये बाध्य होना पड़ता है।

गोस्वामी जी के "सुराज्य" के आदर्श शासक वही हो सकते हैं, जिनका सामाजिक जीवन पूर्ण हो, और हो जिसमें न्याय और सुव्यवस्था के लिये आत्मोत्सर्ग करने की अलौकिक क्षमता। तुलसी के राम इन्हीं गुणों तथा विशेषताओं के प्रतीक थे। सर्वप्रथम आदर्श शासक राम के सामाजिक जीवन को ही देखना चाहिये। राम अयोध्या आते हैं,

चौदह वर्षों के बाद, सामने गुरु वशिष्ट खड़े हैं; वहाँ राम का पहला कर्त्तव्य क्या होता है—देखिये—

"धाइ धरे गुरु चरण सरोरुह"

पुन :—

"हमरे कुशल तुम्हारिहि दाया"

कहकर अपनी सरलता का परिचय देते हैं। ब्राह्मणों के प्रति उनकी श्रद्धा इन पंक्तियों में परिलक्षित होती है—

"सकल द्विजहि मिल नायऊ माथा
धर्म धुरंधर रघुकुल नाथा।"

राम के भ्रातृ स्नेह से हम परिचित ही हैं। उनका भ्रातृ स्नेह भी आदर्श ही है। यहाँ हम राम की सेवक-प्रीति पर भी प्रकाश डालना उचित समझते हैं। क्योंकि सेवक और सेव्य भी सामाजिक जीवन के ही चित्र हैं। राजा को सभी कार्यों का श्रेय अपने सहायकों को ही देना चाहिये। 'मारे सिपाही नाम हवलदार का' की नीति ठीक नहीं। एक स्थल पर स्वंय अपना सिद्धांत बताते हुए कहते हैं कि :—"जीवों में मुझे सबसे प्रिय मनुष्य है, उनमें भी ब्राह्मण, उनमें भी वेदज्ञ, उनमें भी निगम धर्मानुयायी, उनमें भी विरक्त, उनमें भी ज्ञानी, उनमें भी विज्ञानी और इन सबसे अधिक प्रिय मेरा वह दास है जिसे मेरी गति छोड़ और आशा नहीं। मैं जोर देकर सत्य-सत्य कह रहा हूँ कि मुझे सेवक से अधिक प्रिय कोई नहीं।"

"सब मम प्रिय सब मम उपजाए
सब तें अधिक मनुज मोहि भाये
तिन्ह मँह द्विज, द्विज मँह श्रुतिधारी
तिन्ह मँह निगम धर्म अनुसारी
तिन्ह मँह प्रिय विरक्त पुनि ज्ञानी
ग्यानि-हुँते अति प्रिय विज्ञानी
तिन्ह ते पुनि मोहि प्रिय निज दासा
जेहि गति मोरि न दूसरि आशा
पुनि पुनि सत्य कहहुँ तोहि पाहीं
मोहि सेवक सम प्रिय कोउ नाहीं
सब के प्रिय सेवक यह नीती
मोरे अधिक दास पर प्रीती ।"

इसके अतिरिक्त राम एक पत्नीव्रत के पालक थे। सीता उनकी अर्द्धांगिनी थीं, उनमें उनका विश्वास था, प्रेम था। फलतः राम जैसे एक पत्नीव्रत-पालक को शासक के रूप में पाकर जनता ने इस व्रत को अपनाया।

'एक नारिव्रत रत सब झारी
ते मन वच कर्म पति हितकारी।'

तुलसी की दृष्टि में वही वास्तविक शासक है जिसके शासित स्थलों में शोक, दुःख और दरिद्रता आदि की व्याधि न हो और न शासितों को अपमान की गरल घूँट ही पीने का अवसर मिले। सुयोग्य शासक के राज्य में पारस्परिक-

द्वेष और शत्रुता का ह्रास हो ही जाता है। पर इन दिनों तो घर-घर में, भाई-भाई में, कलह है। तुलसी के रामराज्य में कलह या वैर नाम की कोई चीज ही नहीं थी—

'वैर न कर काहू सन कोई
राम प्रताप विषमता खोई'

पुनश्च वही शासक श्लाघनीय है जिसके राज्य में धर्म की रक्षा हो, लोग कर्त्तव्यच्युत न हों, चतुर्दिक सौख्य ही सौख्य हो और न किसी वाह्य आक्रमण का ही भय हो, तथा चिकित्सा का सुन्दर प्रबंध हो। ऐसे राज्य तथा ऐसे राजा का चित्र इन पंक्तियों में अंकित है—

वरनाश्रम निज-निज धरम, निरत वेद पथ लोग
चलहिं सदा पावहिं सुखहिं, नहिं भय सोक न रोग

सब नर करहिं परस्पर प्रीती
चलहिं स्वधर्म नित श्रुतिनीती

तथा—

'सब सुन्दर सब विरूज शरीरा'

सुशासन के कारण ही जनता में धर्म की भावना जाग्रत होती है, शिक्षा का प्रचार होता है और दरिद्रता उस सुराज्य से निकलकर कुशासकों के राज्य की ओर चली जाती है। तुलसी की सुराज भावना इसी का प्रतीक है। ऐसे ही राम राज्य को गोस्वामी जी ने हमारे समक्ष आदर्श रूप में रखा है।—

नहिं दरिद्र कोई दुखी न दीना,

नहिं कोइ अवुध न लच्छण हीना,

सब निरदंभ धरम रत पुनी,

नर अरु नारि चतुर सब गुनी,

सब गुणज्ञ पंडित सब ज्ञानी,

सब कृतज्ञ न कपट सयानी,

सब उदार सब पर उपकारी,

विप्र चरण सेवक नर नारी,

सुयोग्य शासक को प्रजा के सुख के लिए अपने सच्चे सुखों का वलिदान देना होता है। यही सच्चे शासक का धर्म है। कहा भी है—

'अन्य के लिये आत्म सुखों का त्यागना
निजहित की परहित निमित्त अवहेलना
देश जाति या लोक भलाई के लिये
लगा लगाकर दाँव जान पर खेलना'

पर इस सिद्धान्त का अवलंबन अकवर अथवा जार्ज षष्ठ के लिए असंभव है। यह तो राम जैसे राजा के लिए ही संभव था। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि राजा 'साम दाम अरु दण्ड विभेदा' की नीति छोड़ दें।

सुराज में राजा के कार्यों के लिये प्रजाजन की सम्पति अपेक्षित है। राम राज्याभिषेक के अवसर पर दशरथ महाराज की यह उक्ति—

'जौं पाँचहि मत लागइ नीका
करहु हरषि हिय रामहिं टीका'

पुनश्च राम के मुख से भी हमें ऐसी ही वाणी सुनने को मिलती है, जहाँ राम अपने प्रजाजन से कहते हैं—

जौं अनीति कुछ भाखौं भाई
तो मोहि बरजहुँ भय बिसराई'

मानो प्रजा-सत्तात्मक राज्य रहा हो। उस युग के सामंतवादी शासन में प्रजा के मत का इतना महत्त्व—तुलसी की ही आदर्श कल्पना है।

राज्य संचालन के लिए राजा को धर्म कार्य में हाथ बटाना, सभा आदि में भाग लेना उस युग की एक खास विशेषता थी। एक हिन्दू राजा के लिये वेद श्रवण उतना ही आवश्यक था, जितना एक मुसलमान बादशाह के लिए क़ुरान सुनना। तुलसी के रामराज्य वर्णन में हमें इस बात की भी पुष्टि मिलती है। देखिए—

'प्रात काल सरजू करि मंजन
बैठहिं सभा संग द्विज सज्जन
वेद पुरान वशिष्ट बखानहिं
सुनहि राम यद्यपि सब जानहिं'

राजा को स्वदेश स्वर्ग से भी अधिक प्रिय होता है—

'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी'

अतः राम कहते हैं :—

"यद्यपि सब वैकुण्ठ बखाना
वेद पुरान विदित जग जाना
अवध सरिस प्रिय मोहिन सोऊ
'यह प्रसंग जानै कोय कोऊ"

तुलसी ने जो हमारे समक्ष राम राज्य का वर्णन कर एक सुन्दर राज्य का आदर्श रखा है वह श्लाघनीय है। तुलसी की सुराज भावना पर ही राष्ट्रीयता के प्रतीक महात्मा गांधी की स्वराज्य भावना आश्रित है। वह राज्य कैसा था, केवल दो पंक्तियों में ही आप उस आदर्श की झाँकी ले सकते हैं—

'दण्ड यतिन्ह कर भेद जहँ, नर्तक नृत्य समाज
जितहु मनहि अस सुनिय जग रामचन्द्र के राज'

ये सारी बातें तो अपनी जगह में ठीक ही हैं किन्तु गोस्वामी जी ने रामराज्य के आदर्शों के स्थापन के समय कहीं-कहीं बड़ी ही विलक्षण कल्पनाएँ की हैं। रामराज्य से सहस्रों वर्ष बाद किसी कवि की काव्य कल्पना को हम प्रमाण नहीं मान सकते और न उसकी कल्पना को ऐतिहासिक तथ्य ही मानने को बाध्य किए जा सकते। रामराज्य में नहरों या कूपों की कोई आवश्यकता नहीं थी—वहाँ समय पर बादल आप ही बरस जाया करते थे—संपूर्ण अयोध्या में अट्टालिकाएँ थीं—स्वर्ण कलश थे—घर-घर में बन्दनवार थे, आदि बातें कुछ ऐसी हैं कि इस युग का आदमी इनपर

विश्वास नहीं जमा सकता; साथ ही कुछ बातें तो ऐसी हैं जिन्हें आदर्श मानना इस युग में आदमीयत से बाहर की बात ही मानी जायगी। उस युग में तपस्या एवं साधना का मार्ग राक्षसों के लिये तो खुला था किन्तु मार्यादा पुरुषोत्तम से शूद्र मुनि की तपश्चर्या सही नहीं जा सकी और उन्होंने स्वयं उस मुनि का बध कर डाला। क्या यह आज के किसी भी शासक के लिए संभव है? क्या गांधी जी ने इसी आदर्श को ध्यान में रखकर रामराज्य की कल्पना की थी? कदापि नहीं। गाँधी जी के अनुसार रामराज्य का अर्थ "सम्यग्रूपेण सुव्यवस्थित राज्य मात्र" था— और उनका यही अर्थ हम सबों के लिए मान्य है।

"हिन्दी के दो मुसलमान कवि"

सभ्यता के आदि काल से लेकर आज तक जितनी वड़ी-वड़ी वातें साहित्य के कोष में आईं, सवों का लक्ष्य एक ही रहा है और सभी एक ही सत्य को प्रकाशित करती हैं यद्यपि वाह्य रूप से अन्तर रहता है। 'मानवीय सभ्यता जहाँ कहीं एक दूसरी सभ्यता से टक्कर लेती है वहाँ उसके वाह्य रूप में ही वैपम्य रहता है।' अर्थात् यों कहिए कि यह वहिरंग भेद आचार व्यवहार आदि में ही उलझा रह जाता है। हिन्दू और मुसलमान ये दो जातियां विभिन्न संस्कृति, वेप-भूसा, आचार व्यवहार में रह कर भी भाव जगत में प्रवेश करने के पूर्व एक लक्ष्य की ओर ही झुकती हैं। इन दो जातियों के सामाजिक आचार व्यवहार और वेश भूषण आदि निस्सन्देह एक दूसरे से नहीं मिलते परन्तु

यह कोई बड़ा भेद नहीं है, कारण मनुष्य की जाँच उसकी मनुष्यता और उसके उत्कर्ष से होती है और वहाँ ये दोनों जातियाँ एक ही पथ का पथिक बन एक ही लक्ष्य पर पहुँचती हैं। वस्तुतः बात यह है कि सभ्यताओं के विकसित रूप को देखिए तो एक ही सत्य की अटल अपार महिमा वहाँ मिलेगी। हिन्दू और मुसलमान दोनों जातियाँ ऊँची भूमि पर एक ही बात कहती हैं। हमारी तो यही धारणा है कि जब तक हिन्दू और मुसलमान इस भूमि पर चढ़कर मैत्री की आवाज नहीं लगावेंगे तब तक वह स्वार्थजन्य मैत्री स्थिरता नहीं प्राप्त कर सकेगी।

हम आपके समक्ष दो ऐसे मुसलमान साधक कवियों की चर्चा कर रहे हैं जो मुसलमान होते हुए भी हिन्दूभावों के महान पोषक रह चुके हैं, जिनकी रचनायें हिन्दू संस्कृति के लिए अमूल्य रत्न गिनी जाती हैं। आप अब्दुल रहीम खान खाना के नाम से अवश्य परिचित होंगे। ये मुसलमानी सल्तनत में अकबरी दरबार के एक बड़े राज्याधिकारी थे किन्तु उनकी गणना सन्तों में की जाती है क्योंकि वे आजकल के राज्याधिकारियों की भाँति 'अयं निजः परोवेति' की भेदनीती के पक्षपाती नहीं थे वरन् वे 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का आचरण करनेवाले उदार चरित्र पुरुष थे। सचमुच बात तो यह है कि ऐसे पुरुष राज्यशासक हों, चाहे जंगल में रहकर तपस्या करनेवाले हों—मुसलमान हों,

हिन्दू हों अथवा ईसाई हों, हिन्दू इन्हें साधकसन्त ही कहेंगे। हिन्दू धर्म की इसी व्यापक विशेषता ने रहीम को मुग्ध कर दिया था।

रहीम का जीवन चरित्र भी कुछ ऐसा ही है कि हम उन्हें बिना सन्त कहे नहीं रह सकते। खानखाना जिस प्रकार अपनी बुद्धिमत्ता से अकबर के महामन्त्री बन गए और अपनी वीरता से सम्पूर्ण दक्षिण में अपनी धाक जमा गए उसी प्रकार वे अपनी साहित्य मर्मज्ञता तथा विद्वता से साहित्य-क्षेत्र को भी प्रविभासित कर गए। कवि के चुटीले दोहे, जो किसी एक ही विषय पर नहीं, किन्तु भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, शृंगार, नीति, प्रेम, दान और स्वाभिमान आदि भिन्न-भिन्न विषयों पर कहे गए हैं, प्रसाद गुणालंकृत, बड़े ही मर्मस्पर्शी और चमत्कारपूर्ण हैं।

रहीम का काव्य यद्यपि अभी तक हिन्दी में बहुत कम प्राप्त हो सका है किन्तु उस कम का भी महत्व अत्यधिक है। हिन्दी के प्राचीन मुसलमान कवियों में रहीम काव्य का प्रचार हिन्दी भाषी जनता के बीच सबों से अधिक है। तुलसी-वचनों की तरह रहीम के वचन भी हिन्दी भाषी भूभाग में सर्वसाधारण के मुँह पर रहते हैं— जिनमें 'जीवन की सच्ची परिस्थितियों का मार्मिक अनुभव है।' रहीम के दोहों में हृदय को स्पर्श करनेवाली अद्भुत क्षमता है साथ ही उनके भीतर से एक सच्चा हृदय झाँकता दिखाई पड़ता है। आचार्य शुक्ल के शब्दों में

"जीवन की सच्ची परिस्थितियों के मार्मिक रूप को ग्रहण करने की क्षमता जिस कवि में होगी—वही जनता का प्यारा कवि होगा। पढ़े-लिखे लोगों की बात तो पूछना ही व्यर्थ है—देहातों में झपड़ियों के रहनेवाले देहाती गंवार भी रहीम के दोहों से परिचित हैं; और गोस्वामी जी के दोहे चौपाइयों तथा गिरिधर कविराय की कुंडलियों की भाँति इनके दोहे भी रोजमर्रे की साधारण बातों में दृष्टान्त के रूप में कह दिया करते हैं"—

खीरा के मुख काटि कै मलियत लोन लगाय
रहिमन कड़ुए मुखन को चहियत यही सजाय॥
रहिमन वे नर मर चुके, जो कहुँ मांगन जाहिं
उन ते पहले वे मुए जिन मुख निकसत नाहिं।

इनकी कविताओं को पढ़ने से यह स्वतः स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने पूर्णतया अपनी भावनाओं को हिन्दू भावनाओं में मिला दिया था। हिन्दू धर्म, हिन्दू समाज तथा हिन्दू सभ्यता को उन्होंने पूर्ण रूप से अंगीकृत कर लिया था। यदि उन्होंने ऐसा न किया होता तो उनके हृदय से ऐसी हिन्दू स्वभावोक्तियाँ कैसे निकल पाती:—देखिए:—

चित्र कूट में रमि रहे रहिमन अवध नरेश
जा पर विपता पड़त है, सो आवत एहि देश।
छार उछारत शीश पर कहु रहीम केहि काज
जेहि रज मुनि पत्नी तरी, तेहि खोजत गजराज॥

साहित्य मर्मज्ञ और प्रतिभाशाली कवि होने के सिवा ये बड़े दानी और परोपकारी भी थे। "तब हीं लौं जीवो भलो, दीवो होय न धीम' ही उनका सिद्धान्त था। कहा जाता है कि कवि गंग को इन्होंने एक ही छन्द पर ३६ लाख रुपये दे डाले थे। जो भी हो हमें तो इनकी कविताई की ही विवेचना करनी है। रहीम के काव्य का लोगों में इतना आदर पाने का कारण स्पष्ट और प्रत्यक्ष है। कवि ने जो कविता लिखी है, सरस और प्रसादपूर्ण होने के साथ ही साथ हिन्दुओं के प्रति उदारता की एक अपूर्व झांकी उसके अन्तर्गत पाई जाती है। यद्यपि उस समय यों भी अकबर की समन्वयवादिता के कारण भावों के पारस्परिक आदान-प्रदान को अच्छी उत्तेजना मिली थी तथापि रहीम के उदार विचारों की उपेक्षा नहीं की जा सकती। कबीर तथा नानक आदि सन्तों ने निर्गुणोपासना को ही अभीष्ट मान हिन्दुओं और मुसलमानों को मिलाने का सराहनीय प्रयत्न किया था और इस मिलाप के लिए दोनों की कड़ी से कड़ी आलोचना करने में वह नहीं हिचके थे किन्तु रहीम का मार्ग ही दूसरा था। इन्होंने गोस्वामी तुलसीदास का अनुसरण किया था। निम्नलिखित दोहों को पढ़ने से यह प्रकट हो जायगा कि ये भक्ति मार्ग के अनुयायी थे :—

गहु सरनागत राम कै, भवसागर कै नाव
रहिमन जगत उधार कर, और न कछू उपाव।

रहिमन धोखे भाव से, मुख से निकसत राम
पावत पूरन परम गति, कामादिक को धाम ।

रहीम गोसाईं जी के परम सनेही मित्र थे, दोनों में समय-समय पर दोहों में लिखा-पढ़ी भी हुआ करती थी। जिस प्रकार रहीम ने तुलसी से प्रेरणा ग्रहण कर भक्ति-मार्ग का अनुसरण किया था उसी प्रकार तुलसीदास जी ने भी बरवै रामायण की रचना अपने घनिष्ठ मित्र खानखाना के कहने पर उनके बरवों को देख कर की थी। रहीम के बरवै में भारतीय प्रेम-जीवन की सच्ची झलक है।

खानखाना महोदय संस्कृत, अरबी, फारसी के पूर्ण विद्वान् तथा हिन्दी काव्य के भी पूर्ण मर्मज्ञ थे। यहाँ आपके समक्ष हम उनका एक भक्ति भावपूर्ण श्लोक रखते हैं :—

भगवति मुनिकन्ये तारये पुण्यवंतं
सतरति निज पुण्यैस्तत्र किन्ते महत्वम्
यदिह यवन जातं पापिनं मा पुनीहि
तदिह तव महत्वं, तन्महत्वं महत्वम् ।

मुसलमान होते हुए भी रहीम के ये भाव कितने सरस, हृदय-ग्राही और भक्तिपूर्ण हैं।

इन्हीं भावों को देख भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने ऐसे भगवद्भक्त मुसलमान कवियों को लक्ष्य करके "इन मुसलमान

हरिजनन पर कोटिन हिन्दू वारिए" कहा था और यह सत्य भी है। भारतेन्दु के इस कथन का कारण स्पष्ट ही है क्योंकि इसलाम धर्म का पालन करते हुए भी यदि कोई मुसलमान हिन्दी भाषा, हिन्दू मन्दिरों, हिन्दू देवी देवताओं हिन्दू सभ्यता और हिन्दू भावों में भी अपने को तल्लीन कर सकता है—इन सबको अपने ही धार्मिक भावों बल्कि उनसे भी अधिक आदर देता है तो वह हिन्दू जाति के लिए वन्दनीय महात्मा से कम नहीं। ऐसे साधक कवियों की वाणी हिन्दू हृदय में अपना घर बना ही लेगी—हृदय को स्पर्श करेगी ही।

रहीम के उदारतापूर्ण विचारों तथा उनकी भक्ति भावपूर्ण रचनाओं को आपने देखा। अब आप के सामने हम एक ऐसे कवि को रखेंगे जिसकी वाणी से व्रजभूमि गुंजित हो उठी है और जिसकी भक्ति के समक्ष बहुत से सिद्ध भक्त भी नतमस्तक हो जाते हैं—वे हैं—रसखान। इन्हीं के लिए गोस्वामी राधाचरण ने अपने भक्तमाल में लिखा है :—

तब आप आय समुनाय करि सुश्रूषा महमान की
कवि कौन मिताई कहि सकै श्री नाथ-साथ रसखान की ॥

यह प्रसिद्ध है कि रसखान ने वल्लभाचार्य जी के पुत्र श्री विट्ठलनाथ जी से दीक्षा ली थी। दीक्षा ग्रहण करने के पश्चात् ये पूर्ण वैष्णव हो गए थे। और इसलाम को

छोड़ कर एक भक्त हिन्दू साधु का जीवन व्यतीत करने लगे। ये सदा कृष्ण-भक्ति तथा कृष्णोपासना में लीन रहते थे। इनके जीवन का प्रधान कार्य था साधुओं का सत्संग तथा कृष्णप्रेम में मस्त होकर कवित्त सवैया बनाना। इसीलिए वैष्णवों में इनका अच्छा सम्मान भी था। यद्यपि ये वल्लभ संप्रदाय में दीक्षित हुए थे, जिसके उपास्य देव बाल गोपाल हैं पर इनके उपास्यदेव गोपिकारमण कुंज विहारी श्रीकृष्णचन्द्र जी हैं। इन्हें रमानेवाली कृष्ण की यौवन लीला ही थी। भारतेन्दु ने अन्यान्य मुसलमान भक्तों के साथ इनका नाम भी लिया है :—

अलीखाँन पाठान सुता, सह ब्रज रखवारे
सेख नवी, रसखान, मीर अहमद हरि प्यारे
निर्मलदास कवीर ताज खाँ वेगम प्यारी
तानसेन कृष्णदास विजापुर नृपति दुलारी
पिरजादी वीवी रास्तो पदरज नित सिर धारिए
इन मुसलमान हरिजनन पै कोटिन हिन्दुन वारिए

वस्तुतः बात यह है कि कृष्ण की उपासना में इतना माधुर्य था कि मुसलमान भी अपनी कट्टरता छोड़ कर हिन्दू भक्त कवियों के स्वर में स्वर मिलाने लगे। भारतीय देवताओं के संवन्ध में भारतीय भाषा द्वारा मुसलमान भी कविता करने में गौरव समझने लगे थे। भाषा के माधुर्य तथा भावों

के मोहने वादशाह तक को व्रजभाषा में रचना करने के लिए विवश कर दिया था।

कृष्ण के माधुर्यपूर्ण रूप ने तथा उनकी सरस भक्ति पद्धति ने उस काल के प्रायः सभी भक्तों को अपनी ओर आकृष्ट कर लिया था। कहा जाता है कि रसखान श्रीमद्-भागवत का फारसी अनुवाद पढ़ रहे थे, गोपियों का विरह वर्णन पढ़ते-पढ़ने उनके मन में हठात् यह वात आई कि जिस नन्दनन्दन पर सहस्रों गोपियाँ न्यौछावर थीं उन्हीं से क्यों न मन लगाया जाय? यह विचार दृढ़ हो गया और फलस्वरूप ये वृन्दावन में जाकर वस गए और पूर्णरूपेण कृष्ण भक्त हो गए। प्रेम वाटिका का निम्नलिखित दोहा इसी घटना की ओर संकेत करता है :—

तोरि मानिनी तें हियो, फोरि मोहिनी मान
प्रेम देव की छविहि लखि, भए मियाँ रसखान।

वृन्दावन में वस जाने के पश्चात् धीरे-धीरे यह संवाद रसखान तक पहुँचा कि वादशाह उन्हें काफिर समझते हैं और अत्यन्त क्रुद्ध हैं, इस पर रसखान ने वड़ी लापरवाही के साथ कहा :—

कहा करै रसखान को कोऊ चुगल लवार
जो पै राखन हार है, माखन चाखन हार।

इस प्रकार उनकी भक्ति और भी दृढ़ तथा ठोस होती गई।

रसखान के काल से कुछ ही पहले हिन्दी कविता का बहुमुखी विकास हो रहा था। हिन्दू मुसलमान तथा जाति वर्ण का भेद दूर कर एक ओर ज्ञान क्षेत्र में कविता को स्थान मिला और दूसरी ओर शनैः शनैः सूफी कवियों की प्रेम-पीर भी सुनाई पड़ रही थी। इन सूफियों के प्रेम की पीर का प्रभाव कुछ अंश में रसखान पर भी पड़ा था; अन्तर केवल इतना ही था कि सूफियों का विरह निर्विकार, निराकार परमब्रह्म के लिए था और रसखान का विरह साकार सगुण भगवान श्री कृष्ण के लिए था। प्रेम-पीर की तीव्रता दोनों में समान थी। देखिए जायसी का कथन है—

काभा पढ़े गुने अउ लिखे, करनी साथ किए अउ सीखे
आपुह खोइ उहइ जो पावा, सो बीरहु मन लाइ जनावा
जो वहि हेरत जाय हेराई, सो पावइ अमरित फल खाई।

(जायसी)

किन्तु रसखान भगवत प्रेम को ही भगवत रूप समझते थे :—

शास्त्रण पढ़ि पंडित भए, कै मौलवी कुरान
जु पै प्रेम जान्यो नहीं, कहा कियो रसखान
प्रेम फाँसि में फँसि मरै सोई जिए सदाहिं—
प्रेम मरम जाने विना मरि कोई जीवत नाहिं।

रसखान के समय यद्यपि अनेक भक्ति शाखायें तरंगित हो

रही थी किन्तु रसखान पर कृष्ण भक्ति शाखा का ही विशेष प्रभाव पड़ा। इसका कारण यह है कि कृष्ण भक्ति शाखा में सौन्दर्योपासना तथा मधुर भाव की ही प्रधानता थी। रसखान सौन्दर्यो-पासक तथा रसिक थे साथ ही इनके इष्ट-देव भी भगवान श्री कृष्ण ही थे। अतः कृष्ण भक्ति का प्रभाव विशेष रूप से पड़ना आवश्यक और स्वाभाविक ही नहीं वरन् अनिवार्य था। रसखान का सांसारिक प्रेम कृष्णप्रेम ही में परिवर्तित होकर प्रगाढ़ हो गया था, यही कारण है कि भक्ति का रंग जम जाने पर भी वह इनका पीछा नहीं छोड़ सका। रसखान कृष्ण भक्ति से केवल प्रभावित ही नहीं थे, वरन् स्वयं भी सच्चे कृष्ण भक्त थे। कृष्ण के सौन्दर्य, वेश-भूषा, मुरली तथा लीलाओं पर ये मुग्ध और जी-जान से न्यौछावर थे।

यदि आप रसखान के सम्पूर्ण काव्य को देखेंगे तो यह भलीभाँति विदित हो जायगा कि रसखान के मुख्य-वर्ण्य थे कृष्ण, गोपिकायें, मुरली। मोरमुकुट, पीतांवर, कछनी तथा वनमाला इत्यादि की सहायता से इन्होंने श्रीकृष्ण को शोभासागर वना दिया था। करील के कुँजों पर ऊँचे-ऊँचे स्वर्ण-मन्दिरों को न्यौछावर करनेवाले प्रेमी रसखान अपने ढंग के निराले कवि हैं। गोस्वामी तुलसी-दास जी की ही भाँति इन्होंने मानव-काव्य की रचना नहीं की। इनकी प्रेमवाटिका संसार के समस्त प्रेमसाहित्य की

एक अमूल्य वस्तु है। यदि विश्व भर का न कहें तो कम से भारतीय प्रेम का आदर्श तो यही है। रसखान के अनुसार प्रेम वही है जो गुण-रूप यौवन-धन आदि की अपेक्षा न रखता हो, जिसमें स्वार्थ की गंध तक न हो और जो कामना से रहित हो—

विनु गुन जोवन रूप धन, विनु स्वारथ हित जानि।
शुद्ध, कामना तें रहित, प्रेम सकल रसखानि।

गोस्वामी तुलसीदास ने 'ज्ञानहि भक्तिहि नहिं कछु भेदा' कह कर अपना मत प्रकट किया है। गीता में भी कर्मयोग को ही प्रधानता दी गई है किन्तु रसखान की दृष्टि में ज्ञान, कर्म, और उपासना तीनों से प्रेम श्रेष्ठ है। ये प्रेम की प्रधानता स्वीकार करते हैं:—

ज्ञान कर्मरु उपासना, सब अहिमिति को मूल
दृढ़ निश्चय नहिं होत बिन किए प्रेम अनुकूल।

भक्ति और प्रेम की तीव्रता के कारण ही रसखान ने कृष्ण को विष्णु के अवतार के रूप में चित्रित किया है। इनके कृष्ण का पार ब्रह्मा, शंकर, योगी, वेद तथा पुराण नहीं पाते:—

गावैं गुनी गनिका गंधर्व, औ सारदसेस सबै गुन गावत
नाम अनंत गनंत गणेश सों, ब्रह्मा त्रिलोचन पारन पावत
जोगी जती तपसी अरु सिद्ध, निरंतर जाहि समाधि लगावत
ताहि अहीर की छोहरियाँ छछियाँ भरि छाछ पै नाच नचावत।

रसखान की नवधा भक्ति की भावना शुद्ध आत्म-समर्पण की है किन्तु इनकी राधा भावना तो अपने पूर्व के प्रायः प्रत्यक कवि से भिन्न है। इनकी राधा न तो सूर की राधा है और न हरिऔध की वरन् वह कुछ विचित्र ही है। कहने को रसखान ने तो एक स्थल पर यह भी कह दिया है कि जिसे वेद-पुराण भी कभी ढूढ़ नहीं सके, जो कभी देखा सुना भी नहीं गया उसे—'देखो दुरो वह कुंज-कुटीर में बैठो पलोटत राधिका पायन'—राधिका का चरण दबाते देखा। इसका अर्थ यह कदापि नहीं कि वे राधा को कृष्ण से श्रेष्ठ समझते थे।

यदि सच पूछिए तो इनकी भक्ति भावना अन्य भक्त कवियों की भावना से कुछ अनन्यसामान्य सी प्रतीत होती है। इन्होंने अपने को न तो 'हौं प्रभु सब पतितन कौ टीको' ही कहा और न 'मो सम कौन कुटिल मति कामी' ही कहा किन्तु इसी सिद्धान्त में इन्होंने तुलसी के स्वर में स्वर मिलाकर अपनी भक्ति भावना को रमणीय और उत्कृष्ट बना दिया है। तुलसीदास जी का कथन है—

'जेहि जोनि जन्मौं कर्मवस तहँ रामपद अनुरागऊँ'

रसखान को देखिए—

मानुष हौं तो वही रसखानि वसौं ब्रज गोकुल गाँव के ग्वारन
जो पशु हौं तो कहा वस मेरो चरौं नित नन्द की धेनुमँझारन
पाहन हौं तो वही गिरि को जो धर्यौ कर छत्र पुरंदर धारन
जो खग हौं तो बसेरो करौं नित कालिंदी कूल कदंब की डारन'

इन दोनों उक्तियों में जो अन्तर है वह आपके सामने है। गोस्वामी जी प्रत्येक जन्म में राम पद-प्रेम चाहते हैं और रसखान प्रत्येक जन्म में, चाहे मनुष्य हों, पशु हों, पक्षी हों, पत्थर हों, कुछ भी हों, कृष्ण का सामीप्य चाहते हैं। यही रसखान की मुक्ति भावना भी है। रसखान कृष्ण से पृथक्त्व की कल्पना भी नहीं कर सकते थे, वे कृष्ण के स्वरुप में अपने को लीन कर देना चाहते हैं। जो भी हो दोनों ही उक्तियाँ भक्ति के उच्चतम स्तर पर हैं।

यों तो अनेक मुसलमान साधकों ने हिन्दू मन्दिर की घड़ियाली बजाई है किन्तु जिस प्रकार इसलाम का त्याग रसखान ने किया उस तरह अन्य किसी ने भी नहीं। हिन्दू संस्कृति के प्रेमी जायसी भी ईरान की सूफी भावना को हृदय से एकदम नहीं निकाल सके। रसखान ही एकमात्र ऐसे हैं जिन्हें शुद्ध हिन्दू भक्त कवि की कोटि में रख सकते हैं। यदि जातिपाँति की पूछताछ न की जाय तो रसखान का एक-एक सवैया यह पुकार-पुकार कर कह उठेगा कि रसखान व्रजभूमि के निवासी हिन्दीभाषी सन्त कवि थे।

मुसलमानी राज्यकाल में हिन्दी साहित्य की जो उन्नति हुई उसका संक्षिप्त परिचय देते हुए सूर्यकान्त शास्त्री जी ने अपने हिन्दी साहित्य के विवेचनात्मक इतिहास में यह ठीक कहा है कि—"यदि हिन्दी साहित्य की वेदी पर हिन्दुओं ने तुलसी को समर्पित किया तो, मुसलमानों ने

कबीर के द्वारा हिन्दी साहित्य की अनमोल सेवा की। यदि सूरदास हिन्दू थे तो जायसी का जन्म मुसलमान वंश में हुआ था। यदि मीरा बाई हिन्दू थी तो ताज मुसलमान थी। यदि विहारी ने हिन्दू वंश में जन्म लिया था तो रहीम, रसखान और रसलीन ने इसलाम की गोद में शिक्षा पाई थी। यदि हिन्दी साहित्य गगन में से हिन्दू कवियों को निकाल दिया जाय तो सूर्यास्त हो जाता है और यदि उसमें से मुसलिम कवियों का वहिष्कार कर दिया जाय तो चन्द्रोदय नहीं हो पाता।" ※

※ टी० जे० कॉलेज मुँगेर की हिन्दी साहित्य परिषद् द्वारा हिन्दु-मुसलमान एकता के लिए आयोजित १६४६ के समारोह में पढ़ा गया भाषण।

"कवीन्द्र रवीन्द्र और शृंगार"

"शृंगाररसो हि संसारिणां नियमेनानुभवविषयत्वात्सर्वरसेभ्यः
कमनीयतया प्रधानभूतः" 'ध्वन्यालोकवृत्ति' ।

कवि अपने वास्तविक रूप में प्रकृति का गायक और राष्ट्र का उन्नायक समझा जाता है । विश्वविख्यात कवि रवि बाबू ने यदि एक ओर—

नीलसिन्धुजलधौतचरणतल
अनिलविकंपितश्यामलअंचल
अम्बरचुंबितभालहिमाचल
शुभ्रतुषारकिरीटिनीजनकजननीजननी !

गा कर देश के प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पित की, साथ ही मिट्टी के प्रति अपने दायित्व का भी निर्वाह किया, तो दूसरी ओर विश्व प्रकृति के शृंगार भाव का भी चित्रांकण किया है । प्राकृतिक सौन्दर्य का सुन्दर तथा कलात्मक प्रस्फुटन ही

इनकी सबसे बड़ी विशेषता है। सौन्दर्य-पर्यवेक्षण कला की यथेष्ट सूक्ष्मता तो प्रत्येक कविता में मिलती ही है साथ ही अपने विषय को उपयुक्त उपमाओं से साजने सँवारने की भी विलक्षण क्षमता कवि में हैं। भावनाओं की प्रबल जागृति के साथ-साथ सौन्दर्य के मुग्धकारी तथा मनोहर रूप भी सर्वत्र मिलते हैं। 'शृंगारमेव रसनाद् रसमासनामः' कह कर शृंगार-सौन्दर्य को ही सर्वश्रेष्ठ माना गया है। प्राचीन कवियों ने शृंगार के वर्णन में अपनी प्रतिभा के विशेष अंश को खपाया है। यह शृंगार धारा निरन्तर प्रवाहित ही होती रही। एक ओर यदि उन कवियों ने वेदांतिक और दार्शनिक सिद्धान्तों का उद्घाटन किया है तो दूसरी ओर गोपियों का अश्लीलता पूर्ण शृंगार किया है—

गोपी-पीन-पयोधर-मर्दन-चंचल-कर-युग-शाली
धीर-समीरे यमुना-तीरे वसति वने वनमाली

× × × ×

मदन-महीपति-कनकदण्ड-रुचि-केसर-कुसुम-विकाशे
मिलित-शिलीमुख-पाटलि-पाटल-कृतस्मरतूणःविलासे

'जयदेव'

और इधर फिर विद्यापति ने भी—

दिन दिन पयोधर भै गेल पीन
बाढ़ल नितंब माँझ भेल खीन

आदि अश्लील से भी अश्लील वर्णन किए हैं। यही हाल

बंगला के कवि चण्डीदास का भी रहा पर इनने सीमोल्लंघन नहीं किया।

पर रवीन्द्रनाथ ने यद्यपि शृंगार और सौन्दर्य की अनुपम सृष्टि की है फिर भी अश्लील कभी नहीं हो पाए हैं यही उनकी अपनी विशेषता है, जिसके लिए हमें यह कहना पड़ता है कि उनका रूप जल में रहने वाले कमल का-सा था। 'जल में रह कर कमल विलग रह जल से जैसे।' देखिए कवि की 'याचना' शीर्षक कविता—नायक नायिका से याचना कर रहा है। इसमें याचना के विभिन्न प्रकार हैं पर वे केवल भावों की ही याचना हैं—

भालोवेसे सखि निभृत यतने, आमार नामटी लिखियो,
तोमार मनेर मन्दिरे,
आमार प्राणे ये गान वाजिछे, ताहार तालटी शिखियो
तोमार चरणमंजिरे।

नायक के प्राणों में उसकी प्रियतमा की जो रागिनी वज रही है, प्यार की जो आलाप उठ रही है, उसका ताल, उसकी नायिका के नूपुरों में गिरता है,—कितनी भव्य कल्पना है, कितनी सूक्ष्म दृष्टि है। इसी भाँति आगे भी कवि ने उत्कृष्ट लक्षणा का आश्रय लेकर याचक से एक बड़ी याचना कराई है—

आमार स्मरण-शुभ-सिन्दूरे
एकटी बिन्दु आँकियो तोमार ललाट चन्दने,

इसे हम कवि की सुकुमार सूक्ति कहेंगे। वही 'सुकुमार सूक्तियों का संचालक' कवि अपनी 'बालिका वधू' शीर्षक कविता में आपके समक्ष आता है—संक्षेप में उस 'बालिका-वधू' का रूप कवि 'दिनकर' के शब्दों में यों है—

माथे में सेंदुर पर छोटी, दो बिन्दी चम चम सी
पपनी पर आँसू की बूँदे, मोती सी शबनम सी
यौवन की विनती सी भोली, गुमसुम खड़ी शरम सी

अब कवीन्द्र को देखें, किस प्रकार कवि उस 'गुम-सुम खड़ी शरम सी' बालिका-वधू के हृदय प्रदेश में प्रवेश करता है और शाब्दिक चित्र के द्वारा उस 'शरम' की कैसी तसवीर खींचता है—

शुधू दुर्दिन झड़े,
दश दिक त्रासे आँधारिया आसे धरातले अम्बरे,
तखन नयने घूम नाई आर, खेलाधूला कोथा पड़े थाके तार,
तोमारे सबले रहे आँकड़िया
दुःखदिनेर झड़े हिया काँपे थरेथरे।

वर्णन की स्वाभाविकता और सुन्दरता दर्शनीय है। नायिका डरकर अपने प्रियतम को पकड़ लेती है—वर्णन मात्र से शृंगारत्व फूट पड़ा है—

पुनः कवि ने एक युवक पति और एक युवती पत्नी के निश्छल प्रेम का चित्र अपनी 'रात्रे-प्रभाते' कविता में खींचा है। सात्विक भाव (शृंगारजन्य) का उत्कृष्ट उदाहरण है—

("सात्विक भाव स्वभाव धृत आनंद अंग विकास
इन्हीं ते रति भाव को परगट होत विलास"—पद्माकर)
"कालि मधुयामिनीते ज्योत्स्नानिशीथे तव अवगुण्ठनखानि
आमि केड़े रेखेछिनु टानि, आमि केड़े रेखेछिनु वक्षे
तोमार कमलकोमल पाणि;
भावे निमीलित तव नयनयुगल, मुखे नाहिं छिलो वाणी।"
रीति भाव का विलास यही है। अब उसी 'काली मधुया-
मिनी निशीथ' वाली प्रेयसी को 'निर्मल शान्त उषा' में
देखें—जब की वह प्रेयसी से मंगलमूर्ति देवी के रूप में
प्रकट होती है—

'राते प्रेयसीर रूप धरि, तुमि एसेछो प्राणेश्वरि,
प्राते कखन देवीर वेशे, तुमि समुखे उदिले हेसे,
आमि संभ्रमभरे रयेछि दाँड़ाये दूरे अवनत शिरे
आजि निर्मल वाय शान्त ऊषाय, निर्जन नदी तीरे।

अन्त में आप युगों से कीचड़ में पड़ी हुई वेश्या का
चित्र देखें जिसे महाकवि ने 'देवसभा' में नृत्य प्रदर्शन का
अवसर देकर उसके विकृत तथा कलंकित रूप का प्रक्षालन
किया है—

सुरसभातले यबे नृत्ये करो पुलके उल्लसि, हे विलोल-
हिल्लोल उर्वशी,
छन्दे छन्दे नाचि उठे सिन्धुमाझे तरंगेर दल,
शस्यशीर्षे शिहरिया काँपि उठे धरार अंचल,

तव स्तनहार होते नभस्तले खसि पड़े तारा
अकस्मात् पुरुषेर वक्षो माझे चित्त आत्महारा—
नाचे रक्त धारा ।'

शृंगार का इतना उत्कृष्ट वर्णन और अश्लीलता से कितनी दूर—यही तो विलक्षणता है । आगे चलकर कवि ने इस गणिका को स्वर्ग के उदयाचल की मूर्तिमती ऊषा का रूप दिया है, "जिस की देह की नज़ाकत संसार के आँसुओं की सरिता के तट पर धोई गई है"—

मुक्तवेणी विवसने, विकसित विश्ववासनार
अरविन्द माझखाने पादपद्म रेखेछ तोमार
अति लघुभार ।
अखिल मानसस्वर्गे अनन्तरंगिणी,
हे स्वप्नसंगिनी !

'उर्वशी' कवि की अनुपम सृष्टि है । इसमें शृंगार का पूर्ण परिपाक हुआ है । एक आलोचक का कथन है—"उर्वशी में सौन्दर्यबोध का जैसा परिपूर्ण प्रकाश है वैसा यूरोप के साहित्य भर में मिलना मुश्किल है' । अश्लील में श्लील और विकार में यदि निर्विकार की झाँकी देखनी हो तो 'उर्वशी' को देखिए ।

रीतियुगीन हिन्दी काव्य में शुद्ध शृंगार का वर्णन केवल स्वकीया नायिका में ही देखा जाता है पर जब गणिका आदि का वर्णन होता है तो आचार्यतुल्य कवि भी—

करैं और सौं रति रमनि, इक धन ही के हेत
गणिका ताहि बखानहीं, जे कवि सुमति निकेत

जैसा लक्षण ठीक कर इसी कसौटी पर काव्यरचना कर अपने सुमतिनिकेतत्व का परिचय देते हैं—देखिए (पद्माकर की गणिका)

छाजति छबीली छिति छहरि छटा को छोर
भोर उठि आई केलि मंदिर के द्वार पर
एक पग भीतर सु एक देहर पर धर
एक कर कंज एक कर है किवार पर

किन्तु रवीन्द्र की गणिका 'ऊषार उदयसम अनव-गुंठिता, अकुंठिता है। वह न तो माता है, न कन्या और न वधू—वह है 'नन्दन वासिनी ऊर्वशि' जिसके नूपुर की झंकार से देवसभा भी झंकृत प्रतिझंकृत होती है। कलासृष्टि का इससे अधिक उपयुक्त उदाहरण अन्यत्र मिलना कठिन है। कवि की कला तो तब पूर्ण रूप से कलित होती है जब वह वेश्यासौन्दर्य में भी 'सत्यसदाशिव' देखना चाहता है। वस्तुतः बात यह है कि रवीन्द्रनाथ ने जहाँ कहीं भी नारी के नग्नसौन्दर्य का चित्रण किया है—वहाँ "देहाकर्षण की अपेक्षा भावाकर्षण का ही प्रावल्य है एवं पवित्र सच्ची सौन्दर्य

भोगाकांक्षा है"। इसीलिए उनकी शृंगारिकता में सुगंधि है। इसीलिए तो एक आलोचक ने कहा है—

"Tagore pulls down the heaven here below and celebrates the eternal nuptial of the divine and the earthly in the affairs oflife.

प्रतिवाद

रवीन्द्रनाथ और धरती

उस दिन स्थानीय खादी भंडार में एक वकील साहब ने रवीन्द्रनाथ की चर्चा छेड़ी और उपसंहार में अपना यह अंतिम मत प्रकट किया कि रवीन्द्रनाथ ने केवल आकाश के गीत गाए हैं; धरती के प्रति वे मौन हैं। उनके मत पर हठात हाँ कह देना संभव नहीं था और ठीक भी नहीं था। किन्तु वकील साहब के मत को सुनकर हमें किंचित भी आश्चर्य नहीं हुआ क्योंकि आजकल पढ़े लिखे लोगों के लिए बिना जानकारी के भी किसी भी विषय पर निश्चित एवं अधिकार पूर्वक विचार दे देने की एक परिपाटी चल पड़ी है। अध्ययन किए बिना ही एक सन्त, कवि, एवं

राजनीति द्रष्टा के प्रति ऐसा मत किसी दूकान पर दे देना
अनारीपन नहीं तो और क्या है ?

जिस कवि का गान आज राष्ट्रगान के रूप में मान्य
हो कर समग्र देश में गुंजित—प्रति गुँजित होरहा है और
जिस कवि ने—

'नील सिन्धु जलधौत चरणतल
अनिल विकंपित श्यामल अंचल
अम्वर चुंवित भाल हिमाचल
शुभ्र तुपार किरीटिनी' कहकर

देश का एक भव्य, पवित्र, एवं सात्विक विलासमय चित्र
उपस्थित किया है; जिसकी कल्पना का भारतवर्ष ही उत्कृष्ट
भारतवर्ष कहा जा सकता है; उसकी कविताओं में मिट्टी की
सोंधी गंध नहीं है अथवा वह धरती के प्रति मौन है, ऐसा
सोचना अपने दृष्टि दोष एवं अपनी घ्राण-शक्ति के दोष
का परिचय देना है।

रवीन्द्रनाथ का आदर्श महर्षियों का आदर्श है। यदि
आप उनकी कविताओं की विभिन्न धाराओं को देखेंगे तो
वहाँ आपको पथप्रदर्शन की वह क्षमता देखने को मिलेगी
जो वेदों, शास्त्रों एवं उपनिषदों में है। किन्तु वे वेदान्ती
नहीं थे। वे कविता के माध्यम से वेदान्त की उलझनों को
सुलझाने वाले कविर्मनीषि थे—परिभूः स्वयंभूः भी। इसीलिए
उनकी कवितायें भारतीय आदर्श को व्यक्त करने में इतनी
सफल रही हैं।

रवीन्द्रनाथ ने केवल देश के विलासमय उज्वल और प्रगतिशील भविष्य की ही चिंता नहीं की थी, उन्हें देश की दीनता और हीनता का भी पूरा पता था—अपनी बड़ी-बड़ी सजल आँखों से उन्होंने देश के दुख दैन्य को निकट से देखा था। तलातल में प्रवेश कर अनुभव करने की ऐसी विलक्षण प्रतिभा उन्हें प्राप्त थी जो उनके 'अर्थव्य' और 'अजेय' शब्द प्रत्येक चरण में व्यक्त करते रहे हैं। इस छन्द को देखिए—

अंधकार गर्ते थाके अन्ध सरीसृप
आपनार ललाटेर रतन प्रदीप
नाहीं जाने, नाहीं जाने सूर्यालोकालेश
तेमनि अँधारे आछे यई अंध्र देश।

× × × ×

जे एक तरणी लक्ष लोकेर निर्भर
खंड खंड करिताहे तरिवे सागर?

अंधा साँप अँधेरे गढ़े में रहता है, उसे अपने ही मस्तक के रत्न प्रदीप का ज्ञान नहीं। सूर्य के प्रकाश की भी उसे कोई खबर नहीं—इसी तरह यह हमारा देश भी पड़ा हुआ है'। अंतिम दो चरणों में इस स्वप्न द्रष्टा ने असंख्य सम्प्रदायों और मतों पर साथ ही संघ शक्ति के विभिन्न अंशों में विच्छिन्न और विभक्त रूप पर व्यंग्य किया है। कवि के इस करुण-व्यंग्य में सच्चाई है, अनुभूतिमय व्यथा है।

विच्छिन्नता और विभक्तीकरण के पक्षपातियों पर कवि का
व्यंग्य आज राष्ट्र के सामने है—पहले एक; अब दो।

के तादेर दिबे प्राण
तो मारे ओ जारा
भाग करे के तादेर दिबे ऐक्य धारा ?

कवि के इस प्रश्नवाचक चिह्न का समाधान कौन करेगा ?
यहाँ बरबस उर्दू कविता के श्रेष्ठ कवि सर मुहम्मद इक़बाल
की याद हो आती है; जिन्होंने 'सारे जहाँ से अच्छा
हिन्दोस्ताँ हमारा' गा चुकने के बाद देश के बटवारे की
फिलासफी का दान दिया था और आनेवाली पीढ़ियों तथा
अपने अनुयायियों में ईश्वर के प्रति अवज्ञा का भाव भर कर
उन्हें 'झपटने' की सीख दी थी। किन्तु ये भावनायें रवि
बाबू की प्रकृति एवं प्रवृत्ति के सर्वथा प्रतिकूल थीं। इसी-
लिए वे शान्त और स्निग्ध हैं। उनमें कोई हलचल नहीं,
कहीं प्रतिशोध के भाव नहीं। उनमें स्रष्टा की सूझ और
पार्वतीय दृढ़ता थी। उनकी कविताओं में हिमांचल की
शुभ्रता थी—शैत्य था। उन्होंने जो कुछ कहा सबों के
लिए कहा। किसी एक जाति की सीमा में बँधने वाला
व्यक्तित्व उनका नहीं था। जो उन्हें किसी संकीर्ण वृत्त में
घेर कर एकदम अपना समझते हैं वे दूसरों के अधिकार
पर ही अधिकार करना चाहते हैं। जातीय उत्थान की
भावना को उद्बुद्ध करने वाली कवि की निम्नलिखित
पंक्तियाँ देखें—

'जे जाति चले ना कभू तारिपथ परे
तंत्र मंत्र संहितार चरण न सरे'

अर्थात् 'जो जाति कभी चलती नहीं, अग्रसर नहीं होती उसके पथ पर तंत्र मंत्र और संहितायें भी पंगु हैं'। विश्व-बंधुत्व के भाव को बल देने वाले महाकवि के हृदय में एक साथ ही स्वदेश और विदेश दोनों ही के प्रति कल्याण-भाव थे। पंडित जवाहर लाल नेहरू जी ने यह ठीक ही कहा है—"He (Rabindra Nath Tagore) has given to our nationalism the out look of internationlism" आधुनिक भारतीय इतिहास में इस अन्तराष्ट्रीयता के भाव को बल देने वालों में सर्व प्रथम गुरुदेव का ही नाम आयगा—इसमें कोई संदेह नहीं।

देश के सांस्कृतिक विकास के लिये उनके हृदय में एक विचित्र प्रकार की व्यग्रता तथा उद्विग्नता थी। राजनीतिक विकास मात्र से संतुष्ट होने वाले वे नहीं थे। अंग्रेजी राज नाश हो; इन्कलाब-जिन्दाबाद, के नारे मात्र से उनकी इच्छा पूर्ण नहीं होने को थी। वे गद्दी नहीं; देश के चिर निर्मल विकास के आकांक्षी थे। एकबार अंग्रेजी राज्य के प्रति क्षोभ प्रकट करते हुए उन्होंने अपनी आत्मिक भूख इन शब्दों में प्रकट की थी:—"ईसा ने कहा है, मनुष्य केवल रोटी ही के सहारे नहीं जीता। कारण यह कि उसका केवल शारीरिक जीवन ही नहीं; आध्यात्मिक जीवन भी

है। इसी वृहत् जीवन के लिए शासन रहते हुए भी हमारे आनंद का सोता सूखता जा रहा है।" महाकवि ने अपनी जिस भूख को यहाँ व्यक्त किया है उसका डा० रामविलास शर्मा जैसे प्रगतिवादी साहित्यिक नेता को अनुभव नहीं हो सकता क्यों कि उन्हें तो केवल रोटी और गेहूँ चाहिये—गुलाब की पंखुरियों में जो सौन्दर्य है उसे परखना उनकी सीमा के बाहर की बात है। इसी क्रम में रवीन्द्रनाथ ने देशानुरागी युवकों से भी निम्नलिखित निवेदन किया है—"पर इस बात को कि भारत का अह्वान हमारी अंतरात्मा को उद्वेलित कर रहा है, हम तब मानेंगे जब देखेंगे कि किसी विशेष जाति या किसी विशेष वर्ग के ही नहीं; दुर्भिक्ष पीड़ित भाग के द्वार पर हम रोटियाँ लिए खड़े हैं, जब देखेंगे कि राजपुरुषों के निर्दय संदेह और प्रतिकूलता का सामना होते हुए भी अत्याचार के प्रतिरोध की आवश्यकता के समय हमारे युवक विपत्ति के भाव से कुंठित नहीं होते"। आज जब कि देश स्वतंत्र हो गया है—कितने उदार मना ऐसे हैं? कितने युवक ऐसे हैं जो महाकवि की कसौटी पर अपने खरापन की परीक्षा के लिए प्रस्तुत हैं?

अपनी आत्मा के खरापन की परीक्षा किये बिना कसौटी की निन्दा करना कदापि युक्ति युक्त नहीं है। संभव है, कुछ प्रगतिवादी भौतिकवाद, जनता एवं प्रजातंत्र के नाम पर सुकवियों की रचनाओं पर अगति शीलता सिद्ध करना चाहें पर उनके संतोष के लिए श्रीनिकेतन वासियों

का यह प्रिय संगीत (जो १९११ में रचा गया था) रखना असमीचीन नहीं होगा :—

The sun shines, the rain pours down in showers
The leaves glistens in the bamboo grove
The smell of the newly tilled Earth fills the air
Our hands are strong, our hearts glad
As we toil from Morning till night to plough the land.

आप ही कहें, क्या इन पंक्तियों में मिट्टी की गंध नहीं है ? हाँ, यह आप भले ही कहलें कि वे राजनीति के छल छन्द से दूर थे और न किसी ट्रेड यूनियन के सभापति ही थे— किन्तु समाजवादी व्यवस्था में उनकी पूरी आस्था थी। वे एक ऐसे समाज की कल्पना करने वाले थे जहाँ समता का साम्राज्य हो और जिसके सदस्य छलछंद हीन और भोले हों तथा प्रकृति दत्त सुविधाओं पर जहाँ सबों का समान अधिकार हो। जहाँ कोई किसी से निम्न अथवा हीन नहीं समझा जाय और प्रत्येक के विकास का सम तथा उपयुक्त अवसर हो। इस तरह यदि उनकी समाजवादी विचार धारा का हम विश्लेषण करेंगे तो श्री गुरु सेठ की यह उक्ति—

"Thus Tagore knows to sympathise with peasents as a patriot and as a nationalist and not as a fabian or as a green socialist."

हमें उचित ही प्रतीत होगी।

यों तो भारतवर्ष की प्रत्येक भावना की अभिव्यक्ति महाभारत में हुई है किन्तु रवीन्द्रनाथ ने भी भारतीय संस्कृति की प्रत्येक शाखा को विभूतिमय बनाने का सफल प्रयास किया था। वास्तव में इनकी रचनायें भारतीय संस्कृति की प्रत्येक शाखा एवं उसके प्रत्येक अंग को अभिव्यक्त करने में समर्थ हुई हैं। लार्ड चेम्सफोर्ड के नाम अपनी खुली चिट्ठी में उन्होंने पंजाब विद्रोह जन्य जिस प्रति क्रिया को अंकित किया था उसमें भारतवर्ष की भावप्रवणता का उत्कृष्ट रूप परिलक्षित होता है। रवीन्द्रनाथ ने रेमजे मेकडोनाल्ड के कम्यूनल एवार्ड के विरोध में किस प्रकार अपने भाव व्यक्त किए थे यह बात अध्येता नहीं भूल सकते। उनकी ये सारी बातें मिट्टी के प्रति उदासीनता नहीं; बल्कि कर्मठ राजनीतिज्ञ की तल्लीनता ही प्रकट करती है।

आधुनिक भारतीय साहित्य के इतिहास में रवीन्द्रनाथ की महानता सर्वमान्य है—वे वास्तव में महान थे। वे मानव धर्मी कलाकार थे। अतएव उनकी कला कृतियों में मानवीय भावनाओं तथा सामाजिक स्थितियों के मार्मिक चित्रण हुए हैं। उनकी दो बीघा जमीन शीर्षक कविता किसी भी प्रगतिवादी प्रचारक एवं साम्यवादी प्रयोग कालीन कविता से उत्कृष्ट है यद्यपि रवीन्द्रनाथ किसी वाद विशेष के ढिंढोरची नहीं थे। उनके हृदय में दलितों अथवा शोषितों के प्रति कोरी बौद्धिक सहानुभूति मात्र नहीं थी।

वे सत् साहित्य के स्रष्टा थे अतः उनकी कविताओं में सच्ची अनुभूतियों के ही दर्शन होते हैं। दो बीघा जमीन में कवि ने समाज के जिस अंग को, व्यवस्था की जिस दुर्बलता को एवं नीति और शासन के जिस कलंक को स्पर्श किया है वही स्थल साम्यवादियों के भी क्षेत्र हैं। मंगरू के सात पुश्तों की दो बीघा जमीन मालिक ने कैसे छीन ली? कंगाल मंगरू के हृदय से निकलने वाली आहों में कवि का सामन्तवाद के प्रति तीव्र आक्रोष व्यक्त हुआ है—कविता की कुछ पंक्तियाँ वानगी के रूप में आपके सामने हैं देखिये—

परे मास देड़े भिरे माटी छेड़े बाहिर होइ नू पथे
करिलो डिक्री, सकलि बिक्री मिथ्या देनार खते।
ए, जगते हाय सेई वेसी चाय आछे जार भूरी भूरी
राजार हस्त करे समस्त कांगालेर धन चूरी।

× × × ×

धिक् धिक् अरे शतधिक् तोरे निलाज कुलटा भूमी
जखनी जाहार, तखनी ताहार, ऐ कि जननि तुमी।

× × × ×

धनीर आदरे गरव ना धरे एतेई होये छो भिन्न
कोनो खाने लेस नाहीं; अवशेष से दिनेर कोनो चिन्ह
कल्याणमयी छिले तूमी, अई क्षुधाहारा सुधारसी
जतो हासो आज, जतो करो काज छिलो देवी होले दासी

× × × ×

आमी कहिलाम "सुधू दूटी आम भीख मांगी' महाशय
बाबु कहे हेसे "बेटा साधू बेषे पाका चोर अतिशय
आमी सुने हाँसी, आँखी जले भासी, अई छिलो मोर घटे
तूमी महाराज, साधू होले आज, आमी आज चोर बटे,

क्या ये पंक्तियाँ धरती के प्रति उदासीनता का इजहार करती हैं? क्या इस गान से मिट्टी की सोंधी गंध नहीं निकलती है ?

रवीन्द्रनाथ ने धरती और देश के अनेक गान गाए हैं। अध्यात्म और दर्शन तो उनकी रचनाओं के प्राण ही हैं। इनके स्वदेश गान में जो औदार्य एवं व्यापकत्व हैं, वे उन्हें सार्वभौम बना देते हैं। अपने "अकेला चलो" वाले गान में संसार भर के सत्य-पथ-पथिकों, सुधारकों और साधकों को उन्होंने लक्ष्यसिद्धि की दिशा में चलने को ललकारा है—

यदि आलो ना धरे,
ओरे ओरे ओ अभागा !
यदि झड़ बादले आंधार राते
दुयार देय धरे
तबे बज्रानले
आपन बुके पांजर ज्वालिये निये
एकला ज्वलो रे ।
यदि तोर डाक सुने कोई न आसे

तवे एकला चलो रे
एकला चलो, एकला चलो
एकला चलो रे ॥

इस गान की उपर्युक्त पंक्तियाँ आपके समक्ष अन्तर्राष्ट्रीयगान के आदर्श रूप में रक्खी गई हैं। रवीन्द्रनाथ राष्ट्रीयता एवं अन्तर्राष्ट्रीयता की मधुर आँख मिचौनी हैं। उनके गान में संपूर्ण वसुधा के प्रति ममत्व है और समग्र विश्व के लिए चिरन्तन संदेश है। रवीन्द्रनाथ के गान महासिन्धु के सदृश हैं जिनमें क्षीण एवं पीन विभिन्न तथा असंख्य सांस्कृतिक धारायें आकर विलिन हो गई हैं। इनकी काव्य एवं साहित्य साधना के किसी भी अंश पर कुछ कह लेने के बाद भी बहुत कुछ कहने को सदा ही शेष रह जाता है। आशा है कि वकील साहब तथा उनके जैसे असंख्य पढ़े लिखे लोग महाकवि रवीन्द्रनाथ को खुली आँखों से देखने का प्रयास करेंगे। *

---

* रवीन्द्र जयन्ती के अवसर पर मुंगेर उदयन परिषद् के समारोह में दिया गया भाषण।

"हमें गाँव चलना ही है"

पराधीन देश के नागरिकों की अपेक्षा स्वतंत्र देश के नागरिकों के दायित्व का प्रश्न अधिक महत्व पूर्ण हुआ करता है—यह एक ऐसी बात है जिसे नहीं मानना दुराग्रह है, हठधर्मी है। जब तक हम पराधीन थे—हमारा देश औरों का मुखापेक्षी था तब तक हमें जो यातनायें सहनी पड़ी, जैसी पीड़ाओं का अनुभव करना पड़ा, उसका लेखा-जोखा करना अब व्यर्थ है;—'जो बीत गई सो बात गई'। किन्तु अब जब हम अपनी धरती के आप अधिकारी बन गए हैं तो पराधीनताकालीन जिम्मेवारियों से भी आज की जिम्मेवारियों को हमने गौण समझ रक्खा है। हमारा यह रूप शोभन है या अशोभन हम सब इसे सोच समझ सकते हैं—निश्चित है कि हम सबों का निष्कर्ष एक ही होगा।

गाँधी जी हमारे उन नेताओं में से हैं जिन्होंने हमें नगर की ओर से ध्यान हटा कर गाँव की ओर चलने को कहा था। यों तो उन्होंने जीवन के एवं समाज के बहुमुखी विकास के लिए अनेकानेक नुस्खे बताए थे किन्तु उनकी मृत्यु के बाद ही उन सारे नुस्खों को भी हमने खो दिया। उनके बाद के डाक्टरों, वैद्यों एवं हकीमों ने देहात के प्रति एक बौद्धिक एवं पूर्ण रूपेण कागजी सहानुभूति मात्र रखना प्रारम्भ कर दिया है—पिचरोड, रिक्शा, फिटन एवं कार के सुख को छोड़ कौन देहाती सर्प डगर पर चले ?

पर आवश्यकतायें, युद्ध, एवं प्रजातंत्र की समस्यायें हमें रथ एवं यान की विलासमयी ममता को छोड़ कर घर लौटने का आग्रह लेकर सामने खड़ी हो गई हैं। अब इनके ससद्ध वाग्विदग्धता के बल पर आत्म प्रवंचना हमें हर्गिज नहीं करनी है। विधायिका सभायें ग्राम पंचायत आदि के कानून रोज-रोज बनाती चली जा रही हैं किन्तु कानून के प्रति जागरूकता के भाव का देश में पूर्णाभाव दीख पड़ता है। जनसंपर्क विभाग के गजरथ तेजी से कानूनी संदेश गाँव-गाँव में नहीं पहुँचा सके यह हम देख चुके हैं। कानूनों की अवज्ञा करने की हमारी बनी हुई आदतें कानून के प्रतिबंधों में बँधना नहीं चाहतीं और इसीलिए आज संपूर्ण देश से कानून के प्रति आदर का भाव लुप्तसा हो गया है। कानून बनाने वाले ही कानूनों के उल्लंघन में सब से आगे बढ़ना चाहते हैं और शनैः शनैः वे नम्बर भी मारते

जा रहे हैं। ऐसी दशा में देहात के किसानों पर जिन्होंने अंग्रेजी राज्य तथा अपने राज्य की व्यवस्था में कोई विभेद अथवा अन्तर अनुभव नहीं किया है, इन रोज बनने बिगड़ने वाले कानूनों को क्यों लादा जाय? सिद्धान्ततः तो हमें इसे स्वीकार करना ही चाहिए कि When law becomes lawless disobedience is duty पर 'लॉ' की जानकारी हुए बिना उसे 'लॉ लेस' भी कैसे कहा जाय?

देहात के लोगों में प्रजातंत्र की ऋचाओं का एवं नागरिक स्वतंत्रता के सूत्रों का भाष्य जब तक उनकी भाषा में स्पष्ट नहीं कर दिया जाता तब तक प्रगति की कामना अथवा चर्चा अनर्गल प्रलाप मात्र है। देहात के खेतिहर किसान बूँद-बूँद पसीने के मोती को संजोग कर थानेदारों एवं नीरक्षीर विवेकी वकील साहबों के चरणों में अर्पित कर देते हैं और चिरविलंबकारी सरकारी दफ्तरों की खाक छान-छान कर अपनी शेष नैतिकता का बलिदान करते हैं। हाकिम उच्चासन पर बैठकर तथा पीन वेतन भोगी होने पर भी न्याय के नाम पर न्याय नहीं दे पाते, वे दे भी नहीं सकते, क्योंकि उन्हें सच्चाई की खोज वकीलों के दावपेंच तथा पंरवी के आरोहण अवरोहन के बीच करनी पड़ती है। ऐसी अवस्था में देहात के निरीह एवं अर्द्ध जाग्रत किसानों के लिए न्याय चुराने वालों के जाल से त्राण पाने का कौन सा उपाय होगा? निकल भागने की कौन सी राह होगी?

सबसे अधिक क्षोभ और खेद की बात तो यह है कि उत्पादक के पसीनों पर शासक अपने चमत्कारक व्यक्तित्व का निर्माण चाहता है। उत्पादक पेट पकड़ कर हाय-हाय कर रहा है और जो उत्पादक नहीं है—शासक है, वह मौज उड़ा रहा है। बिल्कुल मोटे एवं सीधे ढंग से सोचने पर भी इस अनीति को देख कर रोष होना स्वाभाविक है।

राष्ट्र का कवि देश के समक्ष एक प्रश्न रखता है, वह देश वासियों से यों पूछता है—

पापी कौन मनुज से
उसका न्याय चुराने वाला
याकि न्याय खोजते विघ्न का
शीश उड़ाने वाला ?

पर अशिक्षित देश के लोग अभी पापियों एवं प्रवंचकों को पूरा-पूरा पहचान नहीं सके हैं। जिस दिन उन्हें ज्ञात हो जायगा कि अपराधी वे नहीं हैं—न्याय दाता ही अपराधी हैं उसीदिन वे विद्रोह करेंगे और अपने लिए न्याय प्रिय शासक खोज ही निकालेंगे। इन्हीं सारी बातों के कारण २१ अगस्त १९४९ के हरिजन के सरकारी नौकरों से शीर्षक अग्रलेख में श्री मशरूवाला ने अपने विचार यों व्यक्त किये हैं—"जब तक आप (सरकारी नौकर) नहीं सुधरेंगे, आप जनता को सुखी नहीं कर पायेंगे और सताई हुई जनता आपके जुल्मों से ऊब जाने पर आपको छोड़ेगी नहीं।

याद रखिये, जब आग लगने के लिये सब चीजें अेकत्रित हो जाती हैं, तब उसे भड़काने के लिए अेक चिनगारी ही काफी होती है।" श्री मशरुवाला के इस निवेदन का प्रचार समाचार पत्रों ने खूब किया था किन्तु इतना तो मैं दृढ़ विश्वास के साथ बल पूर्वक कह सकता हूँ कि ९९ प्रति शत लोगों ने (जिन्हें संबोधन कर वह लेख लिखा गया है) हर्गिज नहीं पढ़ा होगा। किसको इतना अवकाश है कि वह नक्कारखाने के कोलाहल में तूती की आवाज सुने और उसपर अमल करे। सच्चाई एवं ईमानदारी की महत्ता एवं आवश्यकता पर अनेकानेक पुस्तकें छपी पड़ी हैं। श्री मशरुवाला ने आत्मिक क्षोभ प्रकट करते हुए उसमें आगे यों कहा है—"लेकिन मुझे अफसोस के साथ कहना पड़ता है कि विविध सरकारों के मंत्री लोग आपकी (सरकारी नौकरों की) कार्य कुशलता से, आपके काम और वर्ताव से कितने ही संतुष्ट क्यों न हों, आपके बारे में लोकमत अिससे बिल्कुल उल्टा है। अितना ही नहीं अैसी भी शिकायतें आती हैं कि लोगों के साथ आपका वर्ताव अंग्रेजी हुकूमत के जमाने से भी ज्यादा असंतोष कारक है। आप ज्यादा रूखे, ज्यादा रिश्वतखोर, कम कुशल, ज्यादा ढील-पोल करने वाले, पैसे के सामने ज्यादा दबने वाले और पक्षपात करनेवाले हो गऐ हैं, और आपका शासन प्रबन्ध आपके ही हाथ से चलने वाले १९४७ के पहले के शासन प्रबन्ध से लोगों को ज्यादा-ज्यादा दुःखदायी मालूम हो रहा है।"

हरिजन के विद्वान् संपादक तथा पू० बापू के अन्यतम अनुयायी श्री मशरूवाला की इन पंक्तियों, को देखकर किसी भी शिष्ट एवं समझदार नागरिक को पीड़ा होगी।

इसीलिए अब जब कि सरकार में लोगों की बाढ़ सी आ गई है और नाना रंग ढंग के हाकिमों का जत्था बनता चला जा रहा है तो ग्रामों के जनसेवकों का संगठन करके देहात के वातावरण को भी शुद्ध करने की बात सोचनी चाहिए। किसानों को अधिकारियों एवं समान्तवाद के हितैषियों से जो ईमान को ढेला मार कर चैन कर रहे हैं, ईमानदारी की सीख नहीं लेनी है। उन्हें, वकीलों के जातिवादी चक्कर से बचाकर सत्य की शरण में ले चलने का प्रयास नितान्त अपेक्षित है। बिना इसके न तो उन्हें सस्ते एवं शीघ्र न्याय की प्राप्ति हो सकती है और न वे स्वावलम्बी ही हो सकते हैं।

देहात की प्रशंसा में एक कवि ने एक पंक्ति कही है—'जगत का सबसे प्यारा देश, देश का वही प्रान्त वीरान'—सचमुच इस प्रान्त से भी सचाई, सचरित्रता, ईमानदारी, पारस्परिक विश्वास आदि सभी मानवीय गुणों का लोप होता जा रहा है। देहात के प्रशंसक परंपरा के पवित्रभाव को ढो मात्र रहे हैं पर सच तो यह है कि बड़ी पूँजी वालों एवं सरकारी दलालों के कारण देहात फरेबों का अड्डा, व्यभिचार का गढ़, शोषण एवं बेईमानी का दुर्भेद्य दुर्ग बन

गए हैं। सहनशीलता तो न जानें कहाँ भाग गई ? मुकदमे बाजी से गाँव के संपन्न एवं बुजुर्गों को अवकाश नहीं। जिनके पास कचहरी का सौदा नहीं वे बुद्धू बने निश्चेष्ट होकर बैठे रहते हैं किन्तु काम करना पसन्द नहीं करते। गाँव के खेतों को छोड़ मजदूर ढाका जाना पसन्द करते हैं, रईस दार्जिलिंग और मंसूरी। इधर सरकार "अधिक अन्न उपजाओ' का पैंफलेट शहरों में बाँट रही है और उधर मजदूरों के विना देहात के खेतों में दीर्घ दरारें दिखाई पड़ती हैं। सच तो यह है कि प्रत्येक जिले के कृषि, सिंचाई, जनसंपर्क, कल्याण एवं अधिक अन्न उपजाने वाले विभागों के लोग केवल वेतन और भत्ता पाया करते हैं—न तो इन्हें जनता जानती है और न ये उनके निकट पहुँचना चाहते हैं। ये वथान की शोभामात्र हैं। गाँव के उद्योग विशारद गाँव से अलग होकर शहरों में अपनी कला का चमत्कार दिखाते हैं और पढ़े लिखे छात्र एवं अध्यापक सरकारी नेताओं की तरह देहात की लथपथ सड़क पर जाना नहीं चाहते। फिर क्या होगा ? यदि सभी ओर ऐसी ही बात रही तो भगवान् ही मालिक हैं। सरकारी योजनाओं के कार्यान्वित होने के भरोसे तो देहात दिनानुदिन ह्रासोन्मुख ही होते जाँयगे।

अतएव देहात के निवासी छात्रों, वकीलों मुख्तारों एवं अध्यापकों का यह धर्म एवं पुनीत कर्त्तव्य हो जाता है कि

छुट्टियों में समय निकाल कर अपनी धरती और अपने समाज के उत्थान के लिए कुछ करें। यदि उक्त वर्गों के नागरिक सच्चाई से उत्थान की कामना करें और प्रयत्नशील हों तो कुछ भी असंभव नहीं है। यदि देश के शिक्षित नागरिक 'गुमसुम खड़ी शरम सी' वधू की तरह चुप रहेंगे तो कौन बोलेगा? चोर को चोर, कुकर्म को कुकर्म यदि नहीं कहा जायगा तो सारे देश में छाये हुए ईमान के प्रवंचक ठेकेदार सारे वातावरण को दूषित कर छोड़ेंगे। इसीलिए देश के जाग्रत नागरिक गाँधी जी के गाँवों की रक्षा करने को कटिबद्ध हों; प्रजातांत्रिक ऋचाओं को रटने रटाने के बजाय उसे कार्य रूप में परिणत करें। जातीय चरित्र का ह्रास जिस द्रुतगति से हो रहा है उसे रोकने का प्रयास करें। इन सारे रचनात्मक कार्यों के लिए हमें गाँव चलना ही है, ऐसी प्रतिज्ञा करें।

"भविष्य की आहट"

स्वतंत्रता प्राप्ति के पूर्व हमारे जननायकों तथा जनसेवकों के आगे एक ही लक्ष्य था, एक ही उद्देश्य था। इसीलिए वे केवल एक लक्ष्य की प्राप्ति के लिए ही साधना के पथ पर दृढ़ता, लगनशीलता एवं कर्त्तव्यनिष्ठा के साथ बढ़ते रहे। उनकी त्याग-तपस्या और उनके बलिदान के कारण जो फल मिला वह हमारे सामने है। इस फल की प्राप्ति के पूर्व हमें अपने देश के गौरवमय अतीत से प्रेरणा ग्रहण करने के लिए सिखाया जाता था और वास्तव में बुद्ध एवं अशोक, प्रताप एवं शिवाजी के महच्चरित्र से हमें प्रेरणा भी मिली। अतीत के इतिहास ने खोई हुई स्वतंत्रता को पाने में पूरी सहायता पहुँचाई और अब हम स्वतंत्र हैं और यही हमारा वर्त्तमान है।

कहा जाता है कि वर्तमान से असंतुष्टि मानवधर्म है किन्तु वर्तमान सुखद तभी हो सकता है जब उसकी पृष्ठभूमि में अतीत का गौरवपूर्ण इतिहास हो एवं उसके सामने भव्य भविष्य की स्वर्णिम कल्पना हो। हमारे देश के गौरवपूर्ण अतीत से किसी को भी क्या विरोध हो सकता है? भविष्य निर्माण के संबंध में भी हमारे पास कम योजनायें नहीं हैं ये योजनायें सुन्दर एवं प्रगतिशील भी हैं। किन्तु इन योजनाओं को कार्यान्वित कर पाने योग्य व्यक्तियों का अभाव है वातावरण की प्रतिकूलता भी एक बड़ी बाधा है। राष्ट्र के सर्वतोमुखी विकास में जिस सामूहिक सहयोग की अपेक्षा होती है उसका भी लोप हो गया है। स्वतंत्रता प्राप्ति के पूर्व हममें जो उत्साह था, वह अब नहीं रहा, जो त्याग तपस्या की भावना थी, उसका स्रोत भी सूख गया। जितनी भी उम्मीदें थीं जलकर झुलस गईं। सोचना यह है कि हमारा वर्तमान अस्तव्यस्त क्यों प्रतीत होता है—जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में जिस विशृंखलता तथा अनुशासनहीनता के दर्शन हो रहे हैं, वे घातक हैं। पर यह क्यों? सच्चाई, ईमानदारी विश्वास आदि श्रेष्ठ मानवीय गुण मनुष्य से क्यों दूर हो गए हैं। ये सभी बातें विचारणीय हैं।

देश के शिशु प्रयोग एवं परीक्षण में हैं—हम दृढ़ता-पूर्वक यह निश्चित नहीं कर पा रहे हैं कि इनकी क्या आवश्यकतायें हैं। इन शिशुओं को विचित्र प्रकार के ढाँचों

में ढालने का प्रयास हो रहा है वह सुश्रृंखल नहीं है। हम एक साथ ही उन्हें संस्कृतज्ञ, हिन्दीदाँ, लुहार, कमार, मजदूर, किसान सब बनाना चाह रहे हैं, परिणाम यह हो रहा है कि देश के असंख्य अभिभावक आश्चर्य से इस नई दिशा की ओर प्रयाण को देख रहे हैं। जो बड़े लोग हैं उनके बच्चों की शिक्षा की व्यवस्था St. xaviers में होती है, दिल्ली, देहरादून आदि में ही पैसे वालों के बच्चों की शिक्षा का प्रबन्ध है। गाँव की शिक्षक हीन एवं साधनहीन पाठशालाओं में पढ़ने का उपदेश तो उन्हें दिया जा रहा है, जिनकी सेवा करने के लिए असंख्य नेता, अधिकारी एवं कर्मचारी हैं। मध्यम वर्ग के जो लोग हैं, उन्हें शंका होती है कि ये चोटी के लोग अपने बच्चों को श्रेष्ठ से भी श्रेष्ठ शिक्षा देकर शासक बनाना चाहते हैं, नेता बनाना चाहते हैं, गण्यमाण्य अधिकारी बनाना चाहते हैं और जो साधारण ढंग की शिक्षा है, वह जनता के लिये है, प्रजापुत्रों के लिये है। प्रतिभा के विकास का समान अवसर सबों को मिलना चाहिये, तो सिद्धान्त मात्र है। ऐसे ही कारणों से जीवन के प्रत्येक क्षेत्र से पारस्परिक विश्वास का लोप होता जा रहा है।

हाई स्कूल के छात्रों को स्कूलों में ज्ञान की एक भी किरण नहीं मिल पा रही है। आज से १२ वर्ष पूर्व ट्यूशन प्रतिशत दो ही लड़के पढ़ते थे किन्तु अब ९९ प्रतिशत की सफलता का रहस्य ट्यूशन ही है। प्रत्येक

शिक्षक अपने-अपने घर पर एक गुरुपिंडा रखते हैं और छात्रों को वार्षिक परीक्षा के लिए अमूल्य एवं अचूक मंत्रणा देकर सफलता के सोपान पर चढ़ा देते हैं—बस, हुआ। कॉलेजों के छात्रों का भी यही हाल है। यदि सच पूछिये तो प्रत्येक कॉलेज एक अजीब ढंग का चिड़ियाखाना है जिसमें कुछ कांग्रेसी, कुछ सोशलिस्ट, कुछ कम्युनिष्ट, कुछ संघी एवं कुछ भोपटकरवादी हैं—वे परस्पर लड़ते अधिक हैं, पढ़ते कम हैं—कथनी बहुत, करनी नदारद। जितने भी राजनीतिक दल हैं, उन सबों का मिश्रित अखाड़ा ये शिक्षण-संस्थायें ही हैं। परिणाम यह हो रहा है कि दस-दस सौ छात्रों में, दस भी ऐसे विद्यार्थी नहीं निकल पाते हैं जो तहजीब एवं तमीज को भी ध्यान में रक्खें अथवा दस पंक्तियाँ शुद्धतापूर्वक बोल या लिख सकें। यदि सच पूछिये तो इन सारी बुराइयों के मूल में राजनीतिक पार्टियां हैं जो छात्रों को नेतापन का झूठा लोभ देकर उनके संपूर्ण व्यक्तित्व को ही विकलांग बनाने पर तुली हुई हैं। भावी संतान' जैसे मधुर शब्दों का प्रयोग कर वे उन्हें अपनी ओर मात्र इसलिए खींचती हैं कि समय आने पर ये उनके पक्ष में कुछ चिल्ल—पों मचा सकें। ऐसी अव्यवस्था के बीच से भी कुछ तो ऐसे प्रतिभावान लोग निकल ही जाते हैं जिन्हें आई० ए० एस०, आई० पी० एस० अथवा इसी कोटि की अन्य जगहें मिल जाती हैं। कुछ बिचले वर्ग के हैं जो डिप्टी, सिप्टी या प्रोफेसर आदि हो जाते हैं—इसके

बाद जो कुछ रह जाते हैं वे दारोगा, किरानी या स्कूल में शिक्षक बन जाते हैं। शेष वकालतखानों की शोभा बढ़ाते हैं या मात्र साफ धोती कुरता के बल पर देश की नेतागिरी करना चाहते हैं। तमाशा तो यह है कि ऐसे ही विवर्ण एवं विकलांग लोगों के जर्जर एवं दुर्बल कंधों पर राष्ट्र की शासन व्यवस्था का भार लदने जा रहा है। नवीन संस्करण के शिक्षक क्लासों में दायाँ-बायाँ झाकते हैं, वकील जाल में मछलियाँ पकड़ने की चेष्टा में लगे रहते हैं और हाकिम पेशकारों के हाथों के खिलौने बन जाते हैं तथा अनैतिकता की सारी शिक्षा कुछ ही दिनों में पाकर सड़क पर भी चौंकते ही चलते हैं। देहात के स्कूलों के शिक्षक सप्ताह में तीन दिन भी छात्रों को पढ़ाने-लिखाने का अवकाश नहीं निकाल सकते—वे डि० बोर्ड और लोकल बोर्ड के सदस्यों के प्रशंसक बन जाते हैं फिर भगवान् भी उनका कुछ नहीं बिगाड़ सकता।

वर्णाश्रम धर्म के कारण जातिवाद एवं गोत्रवाद का जो जहर पहले कुछ धीमा था वह अब तीव्र होता जा रहा है। गाँव के अपढ़ या कम पढ़े-लिखे लोगों के बीच इस विष का किंचित भी प्रसार नहीं हो सका है—वहाँ तो अलीजान भी काका है, और गाजो गोप भी भाई हैं पर पढ़े-लिखे लोग जो देश के ऊँचे से ऊँचे ओहदे पर हैं, वे ही इस विष से पूर्णतया विषाक्त हो गये हैं। भाषणों एवं लेखों में वे जातिवाद के विरोध में जम कर बोलते हैं किन्तु

जब समय आता है तो बिरादरी में ही बताशे बाँटते हैं।
यहाँ ध्यान देने की बात है कि सरकार का कोई भी विभाग
ऐसा नहीं है जिसमें यह विष पूरा-पूरा नहीं फैल चुका है।
शिक्षण संस्थाओं में भी इसका पूरा प्रसार हो चुका है—
परीक्षाओं के फलाफल में यह जातिवाद एवं गोत्रवाद कम
सहायक नहीं सिद्ध होता है—विदेश जाने के लिए जो
छात्रवृत्तियाँ मिलती हैं उनमें भी यह विष महौषधि की तरह
काम करता है। पैरवी से परीक्षोत्तीर्ण होने की प्रणाली
तो प्रशस्त हो ही चुकी है—नौकरी का आधार भी वही
है। वकालतखाना तो इस विष की धारा का मूल उद्गम
ही है—जिसको जातीय पोषण है वह क्षण में ही अच्छा
वकील बन जा सकता है—ऐसा तो प्रायः सिद्ध हो चुका है।
इससे भी बढ़कर प्रान्तीयता का रोग है जिसके कारण
सर्वत्र हाहाकार मचा हुआ है। प्रजातंत्र में जातिवाद,
गोत्रवाद एवं प्रान्तवाद को कोई स्थान नहीं होना चाहिए पर
इनका स्थान सुरक्षित है। राजनीतिक दल तो बिना इसका
उपयोग किए टिक ही नहीं सकते; यद्यपि प्रत्येक दल अपनी
सिद्धान्त पुस्तिका में जातिवाद के नाश की ही बात करता
है। कांग्रेस की आधारशिला यह जातिवाद ही है—
समाजवादी भी इससे ऊपर नहीं हैं। अनुमान है कि
आगामी चुनाव के अवसर पर जहाँ जिस जाति की प्रमुखता
है, वहाँ उसी जाति के सदस्य को खड़ा कर राजनीतिक दल
परस्पर एक घोर संघर्ष में जूझने जा रहे हैं। परिणाम

प्रत्यक्ष दीख रहा है—प्रजातंत्र का यह पहला निर्वाचन जातिवाद की ही पृष्ठ भूमि में होगा और जनता जो अभी तक इस वाद विशेष से आक्रान्त नहीं हो सकी है वह भी जातीयता के रक्तिमफूल फल को देख कर कृत-कृत्य हो जायगी। ये पढ़े लिखे लोग कितने अविश्वासी हैं यह तो जनता जान चुकी है—अब जानना केवल यही है कि ये कितने पतित हैं ? पढ़े लिखे लोग जातीय संघ की स्थापना करके मंत्री और सभापति बन चुके हैं और अब शेष केवल शासक तथा नेता बनना रह गया है।

देश के जननायक जिन्हें जनता की अपरिमित श्रद्धा प्राप्त थी, शासक बन गए हैं, वेतनभोगी सेवक हो गए हैं। अब वे उसी आदर के पात्र नहीं रह गए जिस आदर एवं सम्मान के अधिकारी वे थे। उनने जितने वादे किए थे, वे दिन-प्रतिदिन झूठे साबित हो रहे हैं। देश के सम्मान्य नेताओं की वाणियों को सर्वांशतः सत्य समझना लोग अपना धर्म समझते थे किन्तु अब उनकी बातों पर पूरा-पूरा विश्वास करने में उन्हें झिझक हो रही है। सम्मान्य जन-नायकों के सरकार में चले जाने के कारण उनकी पार्टी का अंग प्रत्यंग जर्जर होता जा रहा है। सारी पार्टी अब उनके हाथों में है जो पंडितन के पछलग्गा मात्र थे। देश के बुद्धिजीवी वर्ग ने इन नीमहकीम खतरे जान के व्यक्तित्व पर ही प्रश्न चिह्न लगा रखा है। शासक की पार्टी के सदस्य होने के कारण वे अपने को तत्संसर्गी पंचमः समझने लगे

हैं, परिणाम यह हो रहा है कि योग्यता के बल पर श्रद्धा एवं स्नेह तो ये खींच नहीं पाते, हाँ, सिफारिश के बल पर धमकाने एवं भय उत्पन्न करके प्रभुत्व स्थापन करने की कला में निपुणता अवश्य पाते जा रहे हैं। न्यायदाता हाकिम जब शासन की अव्यवस्था की बातें करते हैं तो शासक-पार्टी के सदस्यों को ही दोषी ठहराते हैं। इतना ही नहीं बल्कि वे अपनी ईमानदारी की प्रशंसा करने के समय टी० सी० सी० के सदस्यों से लेकर मंत्रियों तक को बेईमान ही कहते हैं। किन्तु जनता उनकी डींग पर भी विश्वास नहीं कर सकती क्योंकि वे तो अंग्रेजी अमलदारी के काल से ही उनके जाने पहचाने व्यक्ति हैं—देश के व्यवसायीगण उनके ईमान को कई बार काँटे पर चढ़ा कर तौल चुके होंगे —देहात के किसान फौजदारी कचहरियों में उनकी ईमानदारी पर सहस्त्रों मन स्वर्ण न्यौछावर कर चुके हैं— जमना-जमाना एवं अपने हाकिम की खुशामद ही इनकी सफलता का वास्तविक रूप है। जनता जिसके वे सेवक हैं—उनके व्यवहार के कारण उन्हें आसमान से गिरा हुआ परियों के देश का व्यक्ति समझती है जिससे बिना नजराना के बात करने में भी उसके पाँव काँपते हैं। शासक पार्टी को अपने दुष्कर्मों के साथ-साथ इनके कुकर्मों के परिणाम को भी ढोना है और इसी क्रम में इन दोनों ही को नवयुग का नव निर्माण भी करना है। नव निर्माण के अनुष्ठान में कचहरियों के वकील साहब की

मंत्रणा तो आहुति का काम करती है क्योंकि कानूनी एवं वैधानिक राय-सलाह देने के साथ-साथ देहातियों के बीच ईमान को ढेला मारने की सीख यदि किसी ने दी है तो ये वकील और मुख्तार ही हैं, जिनके भय से युधिष्ठिर का सत्य भी अवतक ठिठुर चुका होगा। सरकारी नौकरों को मान्य मंत्रियों से भी भय नहीं क्योंकि एक न एक के यहाँ इनकी पहुँच हो ही जाती है और इसीलिए वे जनता के असंतोष पर भी विजय पाने में समर्थ हो जाते हैं। राज्य का प्रधान दफ्तर (Secretariate) तो इतना विशृंखल एवं अनुशासन-हीन प्रतीत होता है कि विना देखे वास्तविक ज्ञान हो ही नहीं सकता। विभिन्न विभागों के सेक्रेटेरियों को छोड़ कर प्रायः सभी कर्मचारी सेक्रेटेरियेट को मात्र होटल या क्लव समझते हैं। एक एक टेवुल के निकट पाँच-पाँच व्यक्ति वैठकर चाय सिगरेट एवं पान भक्षण करते हैं और अधिकार पूर्वक मंत्रियों की योग्यता एवं उनके ईमान आदि की तुलनात्मक समीक्षा करते हुए चार वजा देते हैं। इतनी देर तक गप्पवाजी में परेसान होने के वाद वे जव घर जाते हैं तो दफ्तर में वहुत काम है, कुछ और लोगों की जरूरत है, इनलोगों से कुछ हो नहीं सकेगा, आदि वातें करते हैं। कर्मचारियों का यह खेल राज्य के लिए कितना घातक है, सहज में ही अनुमान लगाया जा सकता है। केवल फीते के रंग को वदल देने से ही दफ्तर अथवा उसमें काम करनेवाले वड़े या छोटे वावुओं की मनोवृत्ति

एवं गति में अन्तर नहीं हो सकता। अन्तर लाने के लिए दंड एवं ताड़न की जबतक व्यवस्था नहीं होती तबतक सुधार की कामना व्यर्थ है। कौन ऐसा है जिसका संबंध धारासभा के किसी न किसी सदस्य से नहीं है—शासकपार्टी के प्रभावशाली व्यक्ति से सरोकार नहीं है? ये कर्मचारी गुप्त बातों को भी प्रकट करने में नहीं चूकते—व्यक्तियों को तो कहते ही हैं—अखबारों में भी सरकार के मुँह पर कालिख पोतने का प्रयास करते हैं—सरकारी रोटी पर पलनेवाले सरकार के ही विश्वासी न हों यह दुर्भाग्य की बात है।

सरकार में प्रवेश पाने की कामना रखनेवाले जो शेष राजनीतिक दल हैं—उनकी ओर भी लोग शंकित भाव से ही देख रहे हैं। हिन्दू महासभा एवं संघ वादियों के कारण जो घाटा देश को आज तक सहना पड़ रहा है–वह स्मरणीय रहेगा। ऐसे दलों को जो जातिवाद एवं सम्प्रदायवाद के पोषक हैं—प्रजातंत्रात्मक राज्य में कोई स्थान नहीं है। राजनीतिक दलों में अग्रगामी दल तो एकदम पृष्ठगामी दल है—इस दलविशेष के कारण कुछ लोग अखिलभारतीय अवश्य बने हुए हैं किन्तु देश की राजनीतिक प्रगति में होड़ लेने की न तो इस दल में योग्यता है और न क्षमता ही। अभी एक सोस्लिस्टपार्टी ही है जो अपने को कुछ बलिष्ठ, कुछ दृढ़ एवं वैधानिक समझती है किन्तु पक्षपातहीन गांधी-वाद से इस पार्टी के समाजवाद को अन्ततोगत्वा कोई

विशेष विरोध नहीं है। जिस प्रकार कांग्रेस की क्रान्तिकारी भावना सूख गई है ठीक उसी प्रकार समाजवादी पार्टी भी क्रान्तिकारी भावना से उदासीन एवं परांगमुख हो गई है। मात्र भाषण से सामाजिक क्रान्ति नहीं लाई जा सकती। इसके अतिरिक्त इस दल में भी कुछ ऊपर के व्यक्तित्वों को छोड़ कर नीचे वाले प्रायः सभी सजसँभल कर चलने एवं बोलनेवाले आडम्बरी एवं लम्फांग ही हैं। देश का बुद्धिजीवी वर्ग इनकी ओर भी आकृष्ट नहीं हो रहा है—कांग्रेस से तो नाउम्मीदी है ही। अब तो ऐसा हो गया है कि जीवन के अन्य क्षेत्रों से जो अस्वीकृत हो जाते हैं वे ही राजनीति में पैंतरेबाजी करना चाहते हैं। सरकारी लोग कानूनन किसी राजनीतिक दल के सदस्य या प्रशंसक नहीं हो सकते। वकीलों का भविष्य इस दल के शासन काल में अंधकारमय ही होगा क्योंकि समाज का यह गिरोह सामंतवाद के पुण्यप्रताप से ही फूलाफला है। अतएव सामंतवाद की जड़ खोदनेवालों के प्रति उसके हितैषियों को सहानुभूति कैसे हो सकती है? और तो और कांग्रेस द्वारा जमींदारी नाश की योजना से यदि जमींदारों को छोड़कर अन्य किसी वर्ग को आन्तरिक पीड़ा है तो वह वकीलों को ही है। ये प्रगतिशील योजनाओं के पक्ष में तभी हो सकते हैं जब इनके स्वार्थ को धक्का न लगे। एक युग था जबकि देश का नेतृत्व वकीलों के हाथों में ही था किन्तु आनेवाले युग में इस दल विशेष का कोई विशेष स्थान नहीं हो सकेगा—

ऐसे लक्षण एवं चिह्न स्पष्ट दीख रहे हैं। समाजवादियों के लिए जनता के असंतोष से लाभ उठाने का अवसर था किन्तु इस गिरोह के लोग भी शहरों में ही चिपके हुए हैं। देहातों में जाकर काम करने वाले बालिग कार्यकर्ता इस दल को प्राय: नहीं ही हैं या हैं भी तो जनता उनकी विद्याबुद्धि पर भरोसा करने के लिए तैयार नहीं है। इधर सरकारी दफ्तरों के फीते की तरह समाजवादियों ने भी अपनी टोपी बदल रक्खी है। उनकी लाल टोपी कौतूहलवर्द्धक अवश्य है किन्तु इस परिवर्तन के पीछे बुद्धितत्व का दिवालिया पन ही कहा जायगा। लाल टोपी आकर्षण नहीं विकर्षण पैदा करती है। संसार के किसी भी राजनीतिक दल ने टोपी बदल कर प्रभुता नहीं पाई है—इसका साक्षी तो इतिहास है ही। समाजवादी दल के नेताओं के वक्तव्य में भी परस्पर विषमता रहती है—परिणाम यह होता है कि लोग यह नहीं समझ पाते कि पार्टी का निश्चित विचार इस संबंध में क्या है? ऐसा इसलिए लग रहा है कि इस दल की चोटी के नेताओं में परस्पर मतैक्य नहीं है। फलस्वरूप वैधानिक ढंग से विजयी होने में इसे काफी विलम्ब है—शासक दल नाना रंगढंग के छलछंद से इन्हें परास्त करने में बाज नहीं आयगा। देश में एक बलिष्ठ विरोधी दल की स्थापना की जो उनकी कामना है—उसमें इन्हें यदि सफलता मिल सकी तो देश का सौभाग्य समझना चाहिए। एक दूसरा दल साम्यवादियों का है—इसके सिद्धान्त के मूल में भी जन-

कल्याण की ही भावना है किन्तु लोक कल्याण के लिए जिस मार्ग का साम्यवादी अवलंबन करते हैं वह घातक, नाशक एवं त्रासक सिद्ध हो चुका है। उन्हें अपनी धरती के प्रति जितना स्नेह है, उससे कहीं ज्यादा अनुराग लेनिन की जन्म भूमि से ही है। ये वास्तव में आतंकवादी हैं और हर समस्या का निदान वे आतंक फैलाकर एवं हिंसा के माध्यम से निकालना चाहते हैं। ऐसी स्थिति में जनता इस वाद विशेष का स्वागत करने को तैयार नहीं है; उसे उनके (साम्यवादियों) रंग-ढंग से शंका होती है। पर शासक पार्टी के प्रति असंतोष होने के कारण ही लोग इन दलों की ओर निहारते हैं, उनमें घुसकर वे अपने उत्थान की बात सोचते हैं।

इधर विभिन्न राजनीतिक दल समाज में क्रान्ति लाना चाहते हैं और पतनोन्मुख जाति को उत्थान की ओर ले चलना चाहते हैं किन्तु समाज अपनी जगह से एक कदम भी आगे नहीं खिसकना चाहता। समाज का कोई भी वर्ग ईमानदारी से अपने समाज के लिए कुछ भी नहीं करना चाहता। व्यापारी और उद्योगपति सबों के ईमान को खा चुके हैं—वे नफा के लिए विष बेचकर भी द्रव्य लाभ करना अपना धर्म समझते हैं—सरकारी नेता एवं हाकिम भी इनके ही पोषक हैं क्योंकि इनके क्षणिक संस्पर्श से ही लोहा कंचन हो जाया करता है। किसान अन्न उपजाते तो हैं किन्तु सरकार द्वारा निश्चित दर पर वे एक कण भी

बेचना नहीं चाहते और न बेचते हैं। डीलर और लीडर के अवैध संबंध पर जो कुछ भी इतने दिनों से कहा सुना जा रहा है वह एकदम असत्य नहीं है। छोटे छोटे रोजगार करने वाले भी 'महाजनो येन गता स पन्था' को ही अपना आदर्श मानते हैं—इसीलिए तो शुद्ध घी, दूध, तेल आदि मिलना कठिन ही नहीं असंभव हो गया है। जीवन की जरूरी चीजें केवल उन्हें ही मिल पाती हैं जो बड़ी पूँजी या बड़े ओहदे वाले हैं। कहने का तात्पर्य यह कि समाज का कोई भी वर्ग स्वच्छ एवं पवित्र नहीं रह सका है चाहे वह शिक्षक हो या वकील, नेता हो या हाकिम, डाक्टर हो या व्यापारी, मालिक हो या मजदूर, किसान हो या जमींदार। डाक्टरों का हाल भी विचित्र है—उनका इलाज भी पैसों पर ही निर्भर करता है—वे न तो पीड़ित मानव मात्र के सेवक हैं न उचित मूल्य पर व्यवसाय करने वाले व्यवसायी ही। आप उनके यहाँ जाँय तो वे अनन्य सामान्य लापरवाही से चाहे पेटेन्ट गोलियाँ दे देंगे या सूई लेने की नेक राय देंगे। मनुष्य का पेट जो सब कुछ खाकर भी भर नहीं जाता है गोलियाँ खाने से क्यों हिचके? सूई लेते जाइए बीमारी बढ़ती जायगी यही इलाज देश को उपलब्ध है। हमारे देश की मृत्यु संख्या जो इतनी अधिक है उसके लिए ये डाक्टर कम उत्तरदायी नहीं हैं।

जनता के मनरंजन के लिए अब तो प्रायः प्रत्येक नगर में सिनेमा हाल की स्थापना हो चुकी है किन्तु सिनेमा

में दिखा
प्रहार
चित्र
द्वारा
फिर
सांस्कृ
वर्षों
३७
खेद
तांगे
फि
पैसे

में दिखाए जाने वाले चित्र भी हमारी नैतिकता पर ही प्रहार करने वाले हैं। यौन भावना के जो उच्छृंखल चित्र सरकार की देख-रेख में बनते हैं और सरकार के ही द्वारा स्वीकृत होने पर दिखाये जाते हैं, वे बड़े ही भ्रष्ट हैं। फिर भी नए चित्र बनते जा रहे हैं जिनसे देश की किसी भी सांस्कृतिक परंपरा को बल नहीं मिल रहा है। अपनी सैंतीस वर्षों की आयु में भारतीय चित्र कंपनियों ने प्रथम श्रेणी के ३७ चित्रों का भी प्रणयन नहीं किया है, यह वास्तव में खेद एवं क्षोभ की बात है। अधिकांश भारतीय चित्र तांगेवालों एवं रिक्शेवालों के लिए ही हैं—कारण यह है कि फिल्म व्यवसायी कला एवं कलात्मक आदर्शों की नाप-जोख पैसों से करते हैं। "कहा जाता है कि आजकल सुरैया तथा रेहाना की धूम है—ये अभिनेत्रियाँ सच्ची कलाकार हैं तथा फिल्म जगत में पारस पत्थर मानी जाती हैं।" किन्तु अधिकांश अभिनेत्रियों ने मानव की बर्बर भावनाओं तथा पशु भावना को ही जागृत करके लोकप्रियता पाई है। सिनेमा में जिस बाजारू प्रेम का प्रदर्शन होता है वह देश के यौवन के लिए घातक सिद्ध हो रहा है। पत्र-पत्रिकाओं में प्रेमपत्र छपा करते हैं—जवान लोग भरी जवानी में दर्द भरे अफसाने गाते-गाते आत्म हत्या कर रहे हैं। ऐसा प्रतीत होता है मानो सेन्शरबोर्ड भी भ्रष्ट हो गया है और व्यवसायियों से पैसे ले-ले कर आवारगी के प्रसार में योग दे रही है। शतिशत एक ही चित्र ऐसा होगा जिसे हम

समग्र परिवार के साथ देखने की हिम्मत कर सकते हैं। सिनेमा ने जो तहजीब सिखायी है—वह 'हाय', राजा और 'खुश रहो प्यारे' आदि तक ही सीमित है। उसके संगीत में जो पद गाये जाते हैं वे तो और भयंकर हैं—

१—हमको भी बैठाना बाबू दिल की मोटर कार में।
२—चुप चुप खड़ी हो जरूर कोई बात है,
पहली मुलाकात है जी पहली मुलाकात है।
३—किस्मत हमारे साथ है, जलने वाले जला करें।
४—जवानी की रेल चली जाय रे।
५—छुक छुक छैयाँ छैयाँ।
६—जिया बेकरार है, छाई बहार है,
आजा मेरे बालमा तेरा इन्तजार है।
७—अंखिया मिला के जिया भरमा के।
८—पतली कमर है, तिरछी नजर है कौन कसर है।

ये ही गीत शतप्रतिशत छात्रों, रिक्शावालों एवं ताँगेवालों के मुख से सुनने में आते हैं—सड़कों पर भी भोंपू से इन्हीं गीतों को प्रसारित किया जाता है। फिल्म निर्माता हमारी गिरी हुई नैतिकता से नाजायज फायदा उठाना चाहते हैं और सरकार उन्हें सुअवसर देने में बाज नहीं आती है। क्या यह संभव नहीं है कि हम दस वर्षों के लिये नाच-गान रोक दें और शिक्षण संबंधी चित्र ही प्रसारित करें? "We should educate our Masters" के सिद्धान्त

पर अब विचार करने का अंतिम समय आ गया है। यदि हमने शिक्षण के बदले भ्रष्टता के प्रसार को ही बल दिया तो जो परिणाम वांछित हैं, देश के सामने होंगे। जर्जर नैतिकता को लेकर जनता सामाजिक उत्थान में योग नहीं दे सकेगी और अपनी पशुता एवं बर्बरता की तृप्ति के लिए किसी भी सरकार की उपेक्षा करने में उसे कोई हिचक या झिझक नहीं होगी।

इस तरह हम देखते हैं कि हमारे राष्ट्रीय जीवन का अंगप्रत्यंग जर्जर हो गया है और हमारे देखने-सुनने, सोचने-विचारने की रीति ही बदल गई है। हमारे जननायक बाह्याडम्बर के बल पर विदेशों में प्रतिष्ठा पाने के लिए आकुल-व्याकुल हैं किन्तु देश के नब्ज पर हाथ रखकर देश के व्यापक रोग को वे पहचान नहीं पा रहे हैं। कहा जाता है कि 'रोग जर्जर शरीर पर केसर और कुंमकुंम के लेप शोभा नहीं दे सकते'—इस उक्ति की क्षण-क्षण उपेक्षा हो रही है। नीचे के लोग अन्न-वस्त्र की चिंता में व्याकुल हैं और नेतृवर्ग एक दूसरे को धकियाकर उच्च से उच्च पद की प्राप्ति के लिए विकल है। ऐसी स्थिति में इतनी बुराइयों के बीच से कुछ भी भलाई निकाल लेना कठिन कार्य है। बापू चले गए—प्रतिभा की पहचान जितनी उन्हें थी उतनी अब किसी में नहीं है। वे जिसको भी छू देते थे वह सोना हो जाता था किन्तु उनके अतिरिक्त जो भी शेष हैं वे स्वयं अपने-अपने व्यक्तित्व का ही भव्य निर्माण चाहते हैं। कहने

का तात्पर्य यह कि देश को नवीन नेतृत्व देने की क्षमता अवशिष्ट लोगों में नहीं रह गई है। विदेशों में भी आज जिनलोगों को सम्मान दिया जा रहा है वे गाँधी, विवेकानंद एवं रवीन्द्रनाथ से कुछ भी अधिक नहीं पा सके हैं। कहना चाहिए तो यह कह सकते हैं कि इन्हीं मनीषियों के नाम पर हमारे प्रतिनिधि विदेशों में चमत्कार प्रदर्शन कर रहे हैं।

देश की शस्यश्यामला भूमि एवं प्रकृति भी क्यों तो रूठ गई है—रत्नगर्भा वसुधा पर्याप्तमात्रा में गेहूँ और वूट भी अपने विराट उदर से निकाल नहीं पाती। उधार पैंचा के बल पर या ऋण लेकर पेट कब तक भरा जायगा ? पता नहीं। देश के भाग्य में क्या लिखा हुआ है यह तो कोई नजूमी ही कह सकता है किन्तु मोटी बुद्धि से विचार करने पर तो यही कहा जायगा कि वर्तमान बड़ा विकृत, कुरूप एवं दुःखद है। अतीत से प्रेरणा ग्रहण करके हम चाहे जितनी भी लम्बी चौड़ी बातें करें किन्तु भविष्य अंधकार-मय ही दीखता है—प्रकाश की किरण फैलेगी अवश्य पर अभी वह हमारे सामूहिक पाप के अंधकार में छिपी हुई है।

स्वतंत्रता प्राप्ति के पूर्व गाँधी जी की छाया में देश के राजनीतिक जीवन में जो एक व्यापक जागरण था वह अब नहीं रहा। देश के असंख्य राजा (जन) राजनीति से उदा-सीन हैं और सर्वत्र मंथरावृत्ति छा गई है—'कोऊ नृप होहि हमैं का हानी, चेरी छाड़ि कहायब कि रानी' लोगोंके मस्तिष्क

में तुलसी की इस चौपाई ने घर कर लिया है किन्तु वर्तमान भ्रष्टाचार को मिटाकर नवीन संस्कृति के संस्थापकों की यह मनोवृत्ति प्रत्येक राजनीतिक दल के लिए चिंता की बात है। जन जागरण के युग में यहाँ के जन सोयें यह कहाँ तक वांछनीय है?

"सूझता आगे न कोई पंथ है
है घनी काली घटा छाई हुई"